RNI Title Code:UPHIN42964
ISSN:2348-1730

ग़ज़लकार

ग़ज़ल की छमाही पत्रिका

Ghazalkaar is available online at



ग़ज़लकार
वर्ष : 02, अंक : 03, जनवरी-जून 2015

मूल्य :
एक प्रति- ₹ 100 आजीवन सदस्यता- ₹ 5000
विदेश के लिए प्रति अंक- USD 20 (उपर्युक्त समस्त शुल्क डाक-ख़र्च सहित है)

बैंक द्वारा भुगतान करने की स्थिति में ड्राफ्ट/चेक **YATHAASAMBHAW LITERARY TRUST** नाम से बनवायें, अथवा सीधे खाते में जमा करें– बैंक : बैंक ऑफ इण्डिया, शाखा : लालगंज अझारा, खाता संख्या : 703110210000006,
IFSC Code : BKID0007031

सम्पादकीय पता :
भदारी कला, लालगंज, प्रतापगढ़ (उ. प्र.) पिन- 230132
मोबाइल : 09415142314, ई-मेल : gazalkaarsixmonthly@gmail.com

सम्पादन एवं संचालन : अव्यावसायिक एवं अवैतनिक

प्रमुख वितरक : अंजुमन प्रकाशन, 942, आर्य कन्या चौराहा,
मुट्ठीगंज, इलाहाबाद-211003, मो.- 09453004398

RNI Title Code:UPHIN42964 ISSN:2348-1730

ग़ज़लकार

ग़ज़ल की छमाही पत्रिका

वर्ष : 02, अंक : 03, जनवरी-जून 2015

सम्पादक

दीपक रूहानी

प्रकाशक

यथासम्भव

साहित्य, संस्कृति और कला की संस्था

भदारी कला, लालगंज, प्रतापगढ़ (उ. प्र.) पिन- 230132

फ़ेहरिस्त

सम्पादकीय
‘ग़ज़लकार’ का घोषणा-पत्र

मेरे ख़याल में ऐसा क़तई नहीं हो सकता कि एकदम सटीक और ठोस उद्देश्य बनाकर किसी पत्रिका का प्रकाशन-सम्पादन किया जाय, फिर भी कुछ मानदण्ड तो होते ही होंगे। ये भी होता है कि कुछ अंक निकल जाने के बाद पाठक उस पत्रिका के उद्देश्यों को पकड़ने की कोशिश करने लगते हैं। हो सकता है वे कुछ हद तक सफल भी हो जायें या इस कारण असफल हो जायें कि पत्रिका का कोई बँधा-बँधाया उसूल ही न हो। बजाय इसके कि ‘ग़ज़लकार’ के बारे में कोई ख़ुद ही राय बना ले और बाद में अपनी अपेक्षाओं को पूरा न होता देख इसे उद्देश्य से भटका हुआ मान ले, मैं कुछ बातें इस तीसरे अंक में ही स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। इससे ये होगा कि मैं ख़ुद भी मनमानी नहीं कर पाऊँगा और आगे लिखी जा रही बातों के ही इर्द-गिर्द रहना पड़ेगा।

१. वस्तुतः ये पत्रिका ग़ज़ल के पाठकों को नहीं, बल्कि ग़ज़ल के हिन्दी-पाठकों को ध्यान में रखकर कार्य करेगी।
२. इसका मुख्य उद्देश्य ग़ज़ल से जुड़ी उन सामग्रियों को हिन्दी-पाठकों तक पहुँचाना है जो उर्दू में ही उपलब्ध हैं।
३. साथ ही ऐसे शायरों को हिन्दी-पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना है जिनकी ग़ज़लें प्रायः उर्दू में ही प्रकाशित होती रही हैं या जिन पर अक्सर उर्दू में ही आलोचनाएँ लिखी जाती रही हैं।
४. इसकी भाषा ऐसी रखने का प्रयास किया जायेगा जिसे हिन्दी-पाठक समझ सकें तथा उनकी उर्दू-शब्दावली में कुछ इज़ाफ़ा भी हो।
५. ये पत्रिका उर्दू के देवनागरी में लिखे जाने का कोई सिद्धान्त विकसित करने का प्रयास नहीं करेगी, परन्तु ये भी है कि ये अपने कुछ वर्तनी-सम्बन्धी आग्रह अवश्य रखेगी।
६. उर्दू की किस प्रकार की सामग्री को हिन्दी-पाठकों के सामने रखा जाय इसके भी कुछ आधार निर्धारित किये गये हैं। सामग्री का निर्धारण उसकी स्तरीयता, मौलिकता और आवश्यकता के आधार पर होगा। कोशिश ये रहेगी कि उर्दू की प्रतिनिधि सामग्री ही प्रस्तुत हो।
७. पत्रिका पाठकों के सुझावों और उनकी माँगों के आधार पर भी सामग्री उपलब्ध कराने का प्रयत्न करेगी।

८. परम्परागत उर्दू-ग़ज़ल के साथ-साथ समकालीन उर्दू-ग़ज़ल और उसके शायरों की आलोचना पर भी ध्यान केन्द्रित किया जायेगा।
९. उर्दू-ग़ज़ल के साथ ही अन्य भाषाओं तथा हिन्दी-ग़ज़ल की आलोचना पर भी सामग्री प्रस्तुत की जायेगी। हिन्दी-ग़ज़ल से सम्बन्धित विभिन्न पत्रिकाएँ अपनी स्तरीयता और प्रतिबद्धता के साथ सक्रिय हैं, जहाँ से हिन्दी-पाठक लाभान्वित हो रहे हैं, इसलिए दुहराव से बचने का प्रयास किया जायेगा।

आशा है मैं कुछ स्पष्ट कर पाया हूँ। यहाँ मैं ये बताना ज़रूरी समझ रहा हूँ कि मैंने ऊपर ये सब स्पष्टीकरण और शपथ-पत्रीय शैली में बातें क्यूँ की। दरअस्ल 'ग़ज़लकार' के दो अंक निकालने के बाद ही मेरे पास 'परामर्शीय' फोन बहुत आये। नाना प्रकार के लोगों ने नाना प्रकार की सलाहें दे डाली- उर्दूवालों ने भी और हिन्दीवालों ने भी। हिन्दीवालों ने तो कुछ अधिक ही सुझाव पेश किये। कुछ से उलझा, कुछ को नज़रअन्दाज़ किया। उन लोगों को इतनी भी समझ नहीं कि साहित्य की किसी एक ही विधा पर केन्द्रित पत्रिका निकालने का जोखिम उठानेवाला कुछ तो जानता होगा, कुछ तो उद्देश्य होंगे उसके। स्पष्ट कर दूँ कि मैं नयी पीढ़ी के उस वर्ग से सम्बद्ध हूँ जो प्रतिबद्ध भी है और समर्पित भी, हम जो कहेंगे उसे करके भी दिखायेंगे।

आख़िर में एक बात और स्पष्ट करना चाहूँगा कि 'ग़ज़लकार' की मूल प्रेरणा मुझे ख़ुद से ही मिली थी। ग़ज़ल से मुहब्बत होने के बाद देवनागरी में उपलब्ध सामग्री से सब्र नहीं हुआ तो उर्दू सीखी और अब कोई उस्ताद तलाश रहा हूँ जो फ़ारसी सिखा दे। जो लोग उर्दू पढ़ नहीं पाते, लेकिन उर्दू समझ लेते हैं; ये पत्रिका उनके लिए विशेष रूप से है। मेरा प्रयास देवनागरी लिपि के साहित्य में अधिक-से-अधिक वृद्धि करना है। मैं मूलतः हिन्दी-भाषा और साहित्य का कार्य कर रहा हूँ, ये अलग बात है कि ये कार्य अनुवाद और लिप्यन्तरण पर आधारित है।

(दीपक रूहानी)

फ़रहत एहसास
बी-602, मीनाक्षी अपार्टमेण्ट्स
सेक्टर- पाई वन,
ग्रेटर नोयडा- 201308
मो.- 09311017160

फ़रहत एहसास का मूल नाम फ़रहत उल्लाह ख़ाँ है। इनका जन्म 1952 ई. में उ. प्र. के बहराइच ज़िले में हुआ। बी. ए. अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी से किया तथा एम. ए. (अँग्रेज़ी, इस्लामिक स्टडी) जामिआ मिलिया इस्लामिया, नयी दिल्ली से किया। उर्दू अख़बार 'क़ौमी आवाज़' से सम्बद्ध रहे तथा कुछ दिनों तक जामिआ मिलिया के 'डॉ. ज़ाकिर हुसैन इंस्टीट्यूट ऑफ़ इस्लामिक स्टडीज़' से निकलनेवाली पत्रिकाओं 'इस्लाम एण्ड द माडर्न ऐज' (इंग्लिश) तथा ' इस्लाम और अस्रे-जदीद' (उर्दू) के सम्पादन से भी सम्बन्धित रहे। आजकल उर्दू-अदब को प्रचारित-प्रसारित करनेवाली तीन लिपियों- रोमन, फ़ारसी और देवनागरी- पर आधारित वेबसाइट रेख़्ता(rekhta) में सम्पादन कर रहे हैं। अब तक दो किताबें- 'मैं रोना चाहता हूँ ' और 'शायरी नहीं है ये' प्रकाशित हो चुकी हैं। शीघ्र ही देवनागरी में एक ग़ज़ल-संग्रह आनेवाला है।

फ़रहत एहसास की शायरी में एक साथ सभी कुछ है- क्लासिकीयत का हुस्नो-इश्क़, लबो-रुख़्सार, ज़ुल्फ़ो-पैकर, दश्तो-सहरा, सूफ़ियाना रंग, तसव्वुफ़, तरक़्क़ीपसन्दी की जनवादिता, प्रतिरोध और आक्रोश, जदीदियत(आधुनिकता) की बेचैनी, निराशा, कुण्ठा और भ्रम आदि-इत्यादि। आलोचना की शब्दावली में कहें तो फ़रहत एहसास सच्चे अर्थों में एक उत्तर-आधुनिक शायर हैं। इनके यहाँ उर्दू-शायरी का ही विकास नहीं देखने को मिलता, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्यिक चेतना का विकास दृष्टिगोचर होता है। फ़रहत साहब अदब और समकाल के सच्चे नुमाइन्दा हैं। इनकी शायरी न सिर्फ़ हमें चौंकाती है, बल्कि जीवन के विशिष्ट अनुभवों से अप्रत्याशित ढंग से मुलाक़ात कराती है। इनके यहाँ वैचारिकता और भावुकता का सन्तुलित मिश्रण हमें उर्दू-ग़ज़ल के एक नये रूप से मिलाता है।

इन्होंने उर्दू-शायरी के मूलभूत तत्त्वों को न सिर्फ़ अपनी ग़ज़लों और नज़्मों के हवाले से संरक्षित-सुरक्षित करने का कार्य किया है, बल्कि ज़िन्दगी भर तमाम तरह के लेख, किताबें आदि लिख करके, सम्पादित करके भारतीय साहित्य को समृद्ध किया है। फ़रहत एहसास ऐसे शायर हैं जिन्होंने अपने बाद आनेवाली पीढ़ी को सर्वाधिक प्रभावित किया है।

इनकी फ़क़ीराना तबीयत और ख़ुदनुमाई की आदत न होने के कारण मुझे इनकी ग़ज़लें मिलने में जो दिक़्क़त हो रही थी उसे मनीष भइया(मनीष शुक्ला, लखनऊ) ने दूर की, इसके लिए उनका जितना शुक्रिया अदा करूँ कम है।

फ़रहत एहसास

मैं तमाम गर्दो-ग़ुबार हूँ

मैं तमाम गर्दो-ग़ुबार हूँ मुझे मेरी सूरते-हाल दे
मेरी ख़ाक है कि उड़ी हुई इसे जिस्म के ख़दो-ख़ाल दे

कि न जाने कौन मेरे वजूद पे पाँव रख के चला गया
कोई नक़्शे-पा हूँ रुका हुआ इसे रास्ते से निकाल दे

मैं करूँ तो क्या कि जमे रहें मेरे पाँव मेरी ज़मीन पर
मेरे घर में मुझको सँभाल या मुझे मेरे घर से निकाल दे

ये फ़लकशिगाफ़ इमारतें मेरे आबो-गिल से बिछड़ गयीं
मेरे आबो-गिल पे करम न कर तू इमारतों को ज़वाल दे

वो मिला कि जैसे बिछड़ गया कोई सानेहा भी नहीं हुआ
मेरा इश्क़ भी कोई इश्क़ है कि न ख़ुश करे न मलाल दे

मेरे होंठ जाने कहाँ गये कि तेरा ही नाम न ले सके
मुझे हर्फ़े-सौत के मावरा कोई और ख़्वाबो-ख़याल दे

कोई बर्फ़-सी है जमी हुई, मेरी चोटियाँ हैं ढकी हुईं
मेरा कोहसार तुलूअ हो मेरे पानियों को उबाल दे

** ** **

सहरा के संगीन सफ़र में आब-रसानी कम न पड़े
सारी आँखें भरकर रखना देखो पानी कम न पड़े

ज़ेहन मुसल्सल क़िस्से सोचे, होंठ मुसल्सल ज़िक्र करें
सुब्ह तलक ज़िन्दा रहना है कहीं कहानी न पड़े

इश्क़ ने सौंपा है मुझको इक सहरा की तामीर का काम
और हिदायत की है ज़र्रा भर वीरानी कम न पड़े

उसने शहरग काटी मेरी और कहा शोख़ी के साथ
तू सच्चा आशिक़ है तो फिर देख रवानी कम न पड़े

मुझे छुपाने को दुनिया ने खोल दिये कपड़ों के थान
चाक गिरेबानी तेरा ज़ोरे-उरियानी कम न पड़े

तुम 'फ़रहत एहसास' बस अपने आपको मरने मत देना
ताकि दफ़्तरे-दुनिया में दख़्ले-इन्सानी कम न पड़े

** ** **

खड़े हैं अक़्लवाले और दिवाना चल रहा है
हमारी वहशतों से ही ज़माना चल रहा है

सुखा लीं सबने ही आँखें हवाए-ज़िन्दगी से
यहाँ अब भी वही रोना-रुलाना चल रहा है

अभी तक इस्म के चेह्रे पे है पर्दा सिफ़त का
हमारा इश्क़ अभी तक ग़ायबाना चल रहा है

समाअत-घर की बैठक में हैं ताज़ा फ़िल्म के गीत
मगर अन्दर वही गाना पुराना चल रहा है

नहीं सूफ़ी हम उतने जितने सादालौह हैं लोग
इन्हीं ठहरे हुओं से आस्ताना चल रहा है

ये सारी रौनक़ें अपनी मेरी आँखों में रख जाओ
ख़बर भी है कि बाहर क्या ज़माना चल रहा है

वही है इश्क़ का दफ़्तर, वही उसके मुलाज़िम
वही अन्दाज़ उसका साहिबाना चल रहा है

मुसल्सल है ये दस्तरख़्वान दुनिया का कि हर वक़्त
बदन बैठे हुए हैं और खाना चल रहा है

वो अपने हुस्न की ख़ैरात अदा करता है अक्सर
तभी हम आशिक़ों का आबो-दाना चल रहा है

ज़मीं को आस्माँ समझे हुए है दिल हमारा
सो इस कूचे में कैसा ताएराना चल रहा है

ख़ुद अपने ख़ूँ का सरमाया, न उन आँखों की इम्दाद
बड़ी मुश्किल से दिल का कारख़ाना चल रहा है

अभी तक बज़्म में आया नहीं है 'फ़रहत एहसास'
अभी घर से ही चालें शायराना चल रहा है

** ** **

तुझे ख़बर हो तो बोल अय मेरे सितारए-शब
मेरी समझ में तो आता नहीं इशारए-शब

उसे मैं एक मुसल्सल चराग़ कर देता
मेरी गिरफ़्त में होता जो इस्तिआरए-शब

मैं इक चराग़ कहाँ तक मुज़ाहमत करता
मेरे ख़िलाफ़ था कितना बड़ा इदारए-शब

बहुत-से चाँद, बहुत-से चराग़ कम निकले
बनाने बैठा जो मैं रात गोशवारए-शब

किसी भी सुब्ह का मरहम असर नहीं करता
कि हर सहर है यहाँ दूसरा किनारए-शब

** ** **

फिर मेरे शानए-हस्ती पे नया सर निकला
और कहते हैं कि पहले से भी बेह्तर निकला

मैं तो इक सब्ज़ए-ख़ुदरौ हूँ, मुझे क्या डर है
जितना काटा गया उतना ही मेरा सर निकला

कभी नीचा रहा सर और कभी छोटे रहे पाँव
मैं भी हर बार कहाँ अपने बराबर निकला

ज़िन्दा रहने में ही दरअस्ल हैं ख़त्रे सारे
मर गया मैं तो मेरे दिल से मेरा डर निकला

शह्र इक क़र्रए-नुक़्सान है मत जाओ उधर
मैं भी मुश्किल से बहुत जान बचाकर निकला

इन्तिज़ामात कहाँ हैं मेरी आबादी के
मैं हर इक नक़्शए-तामीर में बेघर निकला

'फ़रहत उल्लाह' पे पड़ा तीशए-'फ़रहत एहसास'
तब कहीं जाके शरर संग के बाहर निकला

** ** **

मेरे सुबूत बहे जा रहे हैं पानी में
किसे गवाह बनाऊँ सराये-फ़ानी में

जो आँसुओं में नहाते रहे सो पाक रहे
नमाज़ वर्ना किसे मिल सकी जवानी में

भड़क उठे हैं फिर आँखों में आँसुओं के चराग़
फिर आज आग लगा दी गयी है पानी में

हमी थे ऐसे कहाँ के कि अपने घर जाते
बड़े-बड़ों ने गुज़ारी है बेमकानी में

ये बेकिनार बदन कौन पार कर पाया
बहे चले गये सब लोग इस रवानी में

विसालो-हिज्र के एक-इक चराग़ थे दोनों
सियाह हो के रहे शब की बेकरानी में

बस एक लम्स कि जल जायें सब ख़सो-ख़ाशाक
इसे विसाल भी कहते हैं, ख़ुशबयानी में

कहानी ख़त्म हुई, तब मुझे ख़याल आया
तेरे सिवा भी तो किरदार थे कहानी में

न चाहिए मुझे वो आस्माँ जो मेरा न हो
मैं ख़ुश हूँ अपनी ही मिट्टी की आस्मानी में

** ** **

मैं रोना चाहता हूँ, ख़ूब रोना चाहता हूँ मैं
और उसके बाद गहरी नींद सोना चाहता हूँ मैं

तेरे होंठों के सहरा में, तेरी आँखों के जंगल में
जो अब तक पा चुका हूँ, उसको खोना चाहता हूँ मैं

ये कच्ची मिट्टियों का ढेर अपने चाक पर रख ले
तेरी रफ़्तार का हमरक्स होना चाहता हूँ मैं

तेरा साहिल नज़र आने से पहले इस समन्दर में
हवस के सब सफ़ीनों को डुबोना चाहता हूँ मैं

कभी तो फ़स्ल आयेगी जहाँ में मेरे होने की
तेरी ख़ाके-बदन में ख़ुद को बोना चाहता हूँ मैं

मेरे सारे बदन पर दूरियों की ख़ाक बिखरी है
तुम्हारे साथ मिलकर ख़ुद को धोना चाहता हूँ मैं

** ** **

सूरज भी अब निकलता है घर छोड़-छोड़कर
कुछ ख़ास-ख़ास शामो-सहर छोड़-छोड़कर

ताकि जवाज़ मुझपे न होने का मिल सके
बारिश हुई है शह्र में सर छोड़-छोड़कर

इक रोज़ सारे शह्र को वीरान कर दिया
हमने तलाशे-दश्त में घर छोड़-छोड़कर

सारी ही सत्हे-आब चराग़ों से पाट दी
दरिया में हमने दीदए-तर छोड़-छोड़कर

वक़्फ़े बड़े मुहीब से आते हैं बीच में
पढ़ता हूँ ज़िन्दगी की जबर छोड़-छोड़कर

हमने भी की है, क़तरए-निस्याँ की जुस्तजू
एक इक सदफ़ में तुख़्मे-गुहर छोड़-छोड़कर

'एहसास जी' को घर में बिठाकर गया हूँ मैं
आता हूँ बार-बार सफ़र छोड़-छोड़कर

** ** **

झगड़े ख़ुदा से हो गये अहदे-शबाब में
तब से गिरे पड़े हैं जहाने-ख़राब में

कब का वो जा चुका था खुली आँख जब मेरी
मैं उसको देखता ही रहा जैसे ख़्वाब में

रंगीनिए-लिबास का जम्मे-ग़फ़ीर है
शायद कि मैं न आऊँ तेरे इन्तख़ाब में

मुझ पर ज़कात हुस्ने-सुख़न की हुई है फ़र्ज़
शामिल हुआ हूँ शेर के अहले-नसाब में

उट्ठो कि आइना भी कहीं-का-कहीं गया
रह जाओगे यहीं जो रहोगे हिजाब में

शायद क़लम-दवात की फ़ुर्सत न हो उसे
मेरे ही ख़त को भेज दिया है जवाब में

छुप-छुप के देखता था तग़ाफ़ुल की आड़ से
उसने बरत लिया है मुझे इज्तिनाब में

वो शम्अे-इन्तिज़ार की लौ कर गया मुझे
मैं रौशनिए-तब्अ से हूँ पेचो-ताब में

आयीं हवाएँ दूर से बाग़े-बिहिश्त में
ख़ुश्बू भी आयी देर से कारे-सवाब में

आईनए-निगाह में तालीम और थी
बरअक्स हो गया जो लिखा था किताब में

मैं रहनेवाला शामो-सहर के परे का हूँ
डाला गया हूँ, शामो-सहर के हिसाब में

इस बेहिसी के बीच में 'एहसास' की ग़ज़ल
देखो तो ये सुकूत सुख़न के जवाब में

** ** **

उधर वो दश्त मुसल्सल, इधर मुसल्सल मैं
वही अज़ल का वो साया वही ये पागल मैं

हर एक घर में किसी अजनबी-सा रहता हूँ
किसी की अक़्ल में आता नहीं ये मुह्मल मैं

तमाम शह्र की आँखों में रेज़ा-रेज़ा हूँ
किसी भी आँख से उठता नहीं मुकम्मल मैं

रकाबे-ख़ाक में उलझे हैं आस्माँ के पाँव
मिरा ख़याल हवा पर है और पैदल मैं

कुछ इस क़दर है पसे-ख़ाक आँसुओं का हुजूम
बस एक बूँद उभर आयी और जल-थल मैं

** ** **

बदन के सुर्ख़ परिन्दे कभी ज़रा हिल भी
लहू की शाख़ से आगे है तेरी मंज़िल भी

ये ज़र्द-सर्द से पत्ते बुझी-बुझी शाख़ें
दरख़्त नूर से भर दे तुलूअ हो, खिल भी

ये शाम है कि सवेरा, तुलूअ है कि ग़ुरूब
तिलिस्मे-रंग तो टूटे किसी तरह, मिल भी

मेरी निगाह में सहरा हो दूर तक गुलनार
मुझे दिखायी पड़े तू भी, तेरा मुहमिल भी

लहू की धार मुझे उस ज़मीन तक ले चल
कि इक मक़ाम पे मैं भी हूँ और मेरा दिल भी

** ** **

इक हवा आयी है दीवार में दर करने को
कोई दरवाज़ा खुला है मुझे घर करने को

दूर सहरा में कोई ज़ुल्फ़-सी लहराई है
कोई बादल-सा उड़ा है मुझे तर करने को

नज़र आयी है किसी चाँद की परछाईं-सी
शबे-हस्ती में मेरे साथ सफ़र करने को

आ मुझे छू के हरा रंग बिछा दे मुझ पर
मैं भी इक शाख़-सी रखता हूँ शजर करने को

अय सदफ़ सुन! तुझे फिर याद दिला देता हूँ
मैंने इक चीज़ तुझे दी थी गुहर करने को

** ** **

वो मेरी जाँ के सदफ़ में गुहर-सा रहता है
मैं उसको तोड़ न डालूँ, ये डर-सा रहता है

वो चेह्रा एक शिफ़ाख़ाना है मेरे ख़ातिर
वो हो तो जैसे कोई चारागर-सा रहता है

मैं उस निगाह के हमराह जब से आया हूँ
मुझे न जाने कहाँ का सफ़र-सा रहता है

बड़ा वसीअ है उसके जमाल का मंज़र
वो आइने में तो बस मुख़्तसर-सा रहता है

मेरी ज़मीं को मयस्सर है आस्माँ उसका
कहीं भी जाऊँ मेरे साथ घर-सा रहता है

** ** **

इस शह्र पे अब कोई बला तक नहीं आती
हम ऐसे मरे हैं कि क़ज़ा तक नहीं आती

तन्हाई की किस मंज़िले-दुश्वार में होंगे
हम लोग जिन्हें यादे-ख़ुदा तक नहीं आती

किस तरह वो ख़ुद आये कि जब उसकी तरफ़ से
टूटा है पुल ऐसा कि हवा तक नहीं आती

दिन इतने अँधेरों में गुज़रता है हमारा
कुछ रौशनिए-फ़ज्र इशा तक नहीं आती

उस नूर के पैकर का तलबगार हुआ है
इस ख़ाक के पुतले को हया तक नहीं आती

दरिया में फिर इक राह बना देने की तद्बीर
सीने में तो है नोके–असा तक नहीं आती

** ** **

दिन ने इतना जो मरीज़ाना बना रक्खा है
रात को हमने दवाख़ाना बना रक्खा है

इंतकाम ऐसा लिया है मेरी तन्हाई ने
शह्र–का–शह्र बयाबाना बना रक्खा है

ख़ाक का ख़ाना ग़रीबाना बदन है कि जिसे
रौनके–इश्क़ ने शाहाना बना रक्खा है

हमको मालूम है ख़ूब अपनी हक़ीक़त सो उसे
इसी उन्वान का अफ़्साना बना रक्खा है

आदमी हो कि ख़ुदा सबका बराबर है वज़्न
इश्क़ ने एक ही पैमाना बना रक्खा है

मुब्तज़िल होने का अपना मज़ा है वर्ना
हमने भी ख़ुद को हकीमाना बना रक्खा है

'फ़रहत उल्लाह' है वो ग़ज़ल का पुतला जिसने
'फ़रहत एहसास' को दीवाना बना रक्खा है

** ** **

जब उसको देखते रहने से थकने लगता हूँ
तो अपने ख़्वाब की पलकें झपकने लगता हूँ

जिसे भी प्यास बुझानी हो मेरे पास रहे
मैं अपने आप से अक्सर छलकने लगता हूँ

सँभाले रखता है मुझको मेरे नशे का चढ़ाव
नशा उतरता है जब भी बहकने लगता हूँ

बदन की कान[1] से हीरे निकलने लगते हैं
मैं अपनी रात में अक्सर चमकने लगता हूँ

छिड़कनी पड़ती है ख़ुद पर किसी बदन की आग
मैं अपनी आग में जब भी दकहने लगता हूँ

हवाए-हिज्र दिखाती है सब्ज़बाग़े-विसाल
तो यूँ ही बैठे-बिठाये महकने लगता हूँ

वो एक मंज़रे-नापैद है कि जिसके लिए
मैं अक्सर आँख-सा बनकर फड़कने लगता हूँ

सुनाने लगते हैं अस्रारे-इश्क़ जब 'एहसास'
तो उनके सामने दिल-सा धड़कने लगता हूँ

** ** **

दबा पड़ा है कहीं दश्त में ख़ज़ाना मेरा
तो किस तलाश में है शह्र में दिवाना मेरा

तमाम रात है आँखों में आँसुओं की कशीद
तमाम रात खुला है शराबख़ाना मेरा

ये मेरी रूह का झगड़ा था आस्माँ के साथ
बिला क़ुसूर बदन बन गया निशाना मेरा

फ़लक के सर पे पड़े हैं मेरी ज़मीं के पाँव
मेरे सिरहाने से ऊँचा है पायताना मेरा

तो आओ अहले-जहाँ इसपे फ़ैसला कर लें
मकान सारा तुम्हारा दुरूने-ख़ाना मेरा

---

1. खान, खदान

मैं ख़ूब फ़ाक़ा न करता तो मर गया होता
मेरे ख़िलाफ़ सफ़-आरा था आबो-दाना मेरा

किसी ग़ियाब की ख़िद्मत में सारा मेरा हुज़ूर
हुज़ूर फिर भी वही ग़ैर हाज़िराना मेरा

ख़ुद अपने आप पे खुलती रही गिरिफ़्त मेरी
और उँगलियों से फिसलता रहा ज़माना मेरा

कहीं मेरे किसी लम्हे से फिर हुई कोई चूक
फिर आते-आते कहीं रह गया ज़माना मेरा

पसन्द आये न 'एहसास जी' को शेर मेरे
कि है ज़ियादा ही अन्दाज़ शायराना मेरा

** ** **

कोई है जिसको मेरे ख़्वाब की तौफ़ीक़ हुई
उसने आवाज़ मुझे दी, मेरी तस्दीक़ हुई

ग़ैर-हाज़िर हूँ अभी तक मैं इस अफ़्साने से
मैं वहाँ था ही नहीं जब मेरी तख़्लीक़ हुई

वहम कुछ और तनासुब में ज़ियादा निकला
जिस तनासुब से हक़ीक़त में मेरी तहक़ीक़ हुई

मैं कि बस एक बदन हो के बहुत ही ख़ुश हूँ
इससे बढ़कर तो ख़ुदा को भी न तौफ़ीक़ हुई

फ़रहत एहसास को इरफ़ाने-बदन यूँ ही नहीं
रोज़े-अव्वल ही मुहब्बत जो अतालीक़ हुई

** ** **

ये आग है तो काग़ज़ी पैकर में कुछ नहीं
जब तक रहेगा इश्क़ मेरे घर में कुछ नहीं

सोचूँगा गर नहीं तो चलूँगा मैं किस तरह
पैरों में क्या रहेगा अगर सर में कुछ नहीं

हाथी बिगड़ न जायँ जो पोरस की फ़ौज के
फिर तो किसी भी फ़ौजे-सिकन्दर में कुछ नहीं

हम बात मान लेते हैं बस इतनी बात है
वर्ना किसी वली में, पयम्बर में कुछ नहीं

आँखों की दौड़-धूप से है मंज़रों का खेल
आँखें मुँदी हुई हों तो मंज़र में कुछ नहीं

दरिया तो आदतन् ही रवाँ हैं बस उसकी सिम्त
दरिया भी जानते हैं समन्दर में कुछ नहीं

गूँदी गयी है चाँद के पानी से तेरी ख़ाक
सुन वर्ना जानेमन तेरे पैकर में कुछ नहीं

आबे-हयात खींच के ले आये ज़ह्र से
इससे ज़ियादा रक़्से-क़लन्दर में कुछ नहीं

** ** **

दोनों का लाशऊर है इतना मिला हुआ
उसने जो पी शराब तो मुझको नशा हुआ

किसकी है धूल मेरे तसव्वुफ़ के पाँव में
क्या है ये ख़ानकाह के दर पर पड़ा हुआ

पैदा किया दोबारा मुझे उसके जिस्म ने
मैं जो बराए-वस्ल गया था मरा हुआ

दुनिया की हर नमाज़ का मुझको मिला सवाब
मस्जिद का अन्दरून है मुझ पर खुला हुआ

ये भी मेरे चराग़े-ख़मोशी का फ़ैज़ है
चारों तरफ़ है शोर हवा का मचा हुआ

उसने पढ़ी नमाज़ तो मैंने शराब पी
दोनों को लुत्फ़ ये है बराबर नशा हुआ

देखा नहीं कभी, न मुलाक़ात ही हुई
'एहसास जी' का नाम है लेकिन सुना हुआ

** ** **

फ़र्क़ अब कुछ भी नेको-बद में नहीं
कोई भी आँख अपनी हद में नहीं

ज़ोर कुछ तो मेरी सदा का भी है
ज़ोर सारा अलिफ़ की मद में नहीं

अपनी तन्हाई में है मेरा कबीर
किसी साखी किसी सबद में नहीं

मुझको खोकर करो शुमार मेरा
मेरी गिनती किसी अदद में नहीं

'फ़रहत एहसास' पूरा चेह्रा है
सिर्फ़ तर्तीबे-ख़ालो-ख़द में नहीं

** ** **

सब में रहिए लेकिन अपने आप से मत जाइए
कोई भी कपड़ा हो अपनी नाप से मत जाइए

फेरिए मालाएँ चाहे जितनी बुत, हों या ख़ुदा
अन्दर-अन्दर लेकिन अपने जाप से मत जाइए

मारना हो मारिए दुनिया के हर तब्ले पे हाथ
अपने मन की ढोलकों की थाप से मत जाइए

आपके अन्दर उबलता है जो मिट्टी का कढ़ाह
शेर कहना हो तो उसकी भाप से मत जाइए

चाहे जिस धरती पे हों अपना वतन मत भूलिए
जाइए औलाद से, माँ-बाप से मत जाइए

'फ़रहत एहसास' आप अपनी शायरी रखिए खुली
फिर भी शेरों पर ख़ुद अपनी छाप से मत जाइए

** ** **

सब गुमाँ हो गये यक़ीन मेरे
कुफ़्र हो जा न तू भी दीन मेरे

आँखें दिखला न मत्न को अपने
शर्म कर हाशियानशीन मेरे

मेरा महबूब, मैं, रक़ीब मेरा
ढाक के पात हैं ये तीन मेरे

और ताख़ीर से पढ़ाना मुझे
आनेवाले हैं साम्ईन मेरे

जिस्म को दो न आबो-दानए-जिस्म
तुम जो हो रब्बेआलमीन मेरे

मेरी बदसूरती मुकम्मल कर
मेरे पहलू में आ हसीन मेरे

'फ़रहत एहसास', 'ख़ालिदो'-'अकरम'
दोस्त देहली में हैं ये तीन मेरे

** ** **

विसाल करना है जज़्बात में नहीं आना
तो जा हमें तेरी बरसात में नहीं आना

मुआम्लाते-मुहब्बत में हूँ ग़ुलाम तेरा
प जानेमन तेरी हर बात में नहीं आना

बदन से ख़ूब लड़ी है फिर आज रूह मेरी
अब इन अजीब से हालात में नहीं आना

अजीब रूह की शादी है एक रूह के साथ
किसी भी जिस्म को बारात में नहीं आना

हम आधी रात के बाद अपने साथ रहते हैं
ख़याल रखना बहुत रात में नहीं आना

मेरा वजूद में आना बहुत ज़रूरी है
पर ऐसे मौसमे-इस्फ़ात में नहीं आना

बहुत ही अम्न से हैं मेरे दोनों माशूक़
जो दिन में आना है वो रात में नहीं आना

मेरी ग़ज़ल में है तारीफ़ तेरी आँखों की
तेरे .फ़रेबे करामात में नहीं आना

गुनाह कैसे हैं हमारे साफ़ और शफ़्फ़ाफ़
किसी ख़ुदा के हिसाबात में नहीं आना

बुला रही है वो आग़ोश अब मियाँ 'एहसास'
पर उससे कहना कि ख़ैरात में नहीं आना

** ** **

इक रात वो गया था जहाँ बात रोक के
अब तक रुका हुआ हूँ वहीं रात रोक के

आँखें बरसती देखीं तो बादल ठहर गये
आँखों के एहतराम में बरसात रोक के

ये इश्क़ एक रात का कब है, उठा रखो
कल के लिए भी दौलते-जज़्बात रोक के

आग़ोशे-यार खुल भी कि आया हूँ तेरे पास
सिर्फ़ एक पल को गर्दिशे-हालात रोक के

'एहसास' कुछ तो अपने लिए भी बचे रहो
अय मेरे शाहख़र्च! ज़रा हाथ रोक के

** ** **

ये शेर पढ़ के ज़रा-सा अमल कीजिएगा
सवाले-वस्ल हो कोई तो हल भी कीजिएगा

यक़ीं दिलाइए हमको तो बात आगे बढ़े
जो बात आज हुई है वो कल भी कीजिएगा

इसी उमीद पे रोज़ इक क़सीदा लिखता हूँ
कभी तो ख़्वाहिशे-अर्ज़े-ग़ज़ल भी कीजिएगा

कहाँ का काबा, मेरे दिल का कीजिए न तवाफ़
मज़ा मिले तो ये हज्जे-बदल भी कीजिएगा

** ** **** ** **

(मूल उर्दू से लिप्यन्तरण : दीपक रूहानी)

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी
29-सी, न्याय मार्ग
इलाहाबाद (उ. प्र.)
मो.- 09415340662

क्लासिकी ग़ज़ल की शेरियात पर आधारित ये लेख इस अंक में समाप्त हो रहा है। उम्मीद है ग़ज़ल के प्रति हमारी समझ विकसित होने में ये लेख सहायक होगा। दरअस्ल ये लेख न सिर्फ़ हमें ग़ज़ल के शास्त्रीय रूप और तत्त्वों से परिचित कराता है, बल्कि फ़ारूक़ी साहब के आग्रहों का भी प्रतिनिधित्व करता है। फ़ारूक़ी साहब यद्यपि कि उर्दू-आलोचना में जदीदियत से जुड़ा एक बड़ा नाम हैं, लेकिन वक़्त के साथ इन्होंने वैश्विक स्तर पर समय-समय पर छा जानेवाले विभिन्न प्रकार के वादों-विवादों और नित नयी दार्शनिकता से आक्रान्त वातावरण में उर्दू-ग़ज़ल को बचाने-सजाने का भी काम किया। इसके अलावा अपने तमाम लेखों-आलेखों द्वारा फ़ारूक़ी साहब ने जदीदियत में भी क्लासीकियत की सम्भावनाओं को जिस प्रकार तर्कों द्वारा सिद्ध किया और सम्भव बताया, वो अपने-आप में उर्दू-आलोचना के लिए अभूतपूर्व विकास सिद्ध हुआ है। ये ऐसे आलोचक हैं जिनसे भाषा और साहित्य को दिशा मिलती है।

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी

क्लासिकी ग़ज़ल की शेरीआत-2

(कुछ तन्क़ीदी, कुछ तारीख़ी बातें)

उन्हें ये तो मालूम न था कि ऐसे हुस्न को अँग्रेज़ीवाले बयान किस तरह करते हैं, लेकिन ये बात वो ज़रूर जानते थे कि उर्दू में सरापानिगारी(नख-शिख वर्णन) की रस्म है। लिहाज़ा उन्होंने जल्दी में ग़लत ढंग से पद्यबद्ध कर दिया। सरापा या किसी भी क्लासिकी विधा(या अर्द्ध क्लासिकी विधा) में मुनासिबते-अल्फ़ाज का केन्द्रीय महत्त्व होता है, ताकि बयान क्रमबद्ध और प्रासंगिक हो और माशूक़ (या हसीन शख़्स जिसका सरापा लिखा जा रहा है) की जिस्मानी शख़्सियत का नामयाती और मुसव्विराना बयान हो सके। सरापानिगारी की कुछ रस्में भी थीं। वो शायर जो तख़य्युल की ज़ियादा बुलन्दी या पैकर की रंगारंगी पर मौलिक पकड़ न रखते थे, इन्हीं रस्मों के सहारे अपना काम चला लेते थे। 'जोश' साहब को मुनासिबते-अल्फ़ाज के फ़न से वाक़िफ़ीयत न थी और न वो सरापानिगारी की रस्में जानते थे या अगर वो जानते भी थे तो उसे प्राचीन, 'गैर हक़ीक़ी' और अननेचुरल शायरी का तौर क़रार देते होंगे। अब देखिए उन्होंने 'जंगल की शहज़ादी' में सरापानिगारी के नाम पर उर्दू-शायरी को किस तरह रुस्वा किया है। पूरा सरापा नाक़ाबिले-बर्दाश्त है, लिहाज़ा सिर्फ़ पाँच शेर नक़्ल करता हूँ—

ज़ाहिदफ़रेब, गुलरुख़, काफ़िर, दराज़-मिज़्गाँ
सीमींबदन, परीरुख़, नौख़ेज़, हश्र-सामाँ
ख़ुशचश्म, ख़ूबसूरत, ख़ुशवज़्अ, माह-पैकर
नाज़ुकबदन, शकरलब, शीरींअदा, फ़ुसूँगर
काफ़िर अदा, शिगुफ़्ता, गुलपैरहन, समन-बू
सर्वे-चमन, सहीक़द, रंगींजमाल, ख़ुशरू
गेसू-कमन्द, महवश, काफ़ूरफ़ाम, क़ातिल
नज़्ज़ारासोज़, मैगूँ, जाँबख़्श, रूह परवर
नस्रींबदन, परीरुख़, सीमींअज़ाब, दिलबर

यूँ तो ऊपर उल्लिखित अश्आर को शायरी से ज़ियादा मौज़ूँ तुकबन्दी ही कहना चाहिए, लेकिन इससे तन्क़ीद का हक़ अदा नहीं होता। बक़ौल फ्रैंक करमोड(Frank Kermode)— किसी नज़्म पर बेह्तरीन रायज़नी किसी और नज़्म से ही होती है— तो इस सरापा की सबसे आसान तन्क़ीद ये है कि किसी औसत दर्जे के क्लासिकी शायर के यहाँ से कोई सरापा नक़्ल(उद्धृत) कर दिया जाय। ज़ियादा दूर न जायें तो 'दास्ताने-अमीर हम्ज़ा' ही में से कोई नुमाइन्दा सरापा उठा लें। लिहाज़ा

मुलाहिज़ा हो, 'तिलिस्म होशरुबा' तीसरा खण्ड (लेखक अहमद हुसैन क़मर, सन् 1892 में प्रकाशित), पृष्ठ 200 की ये नज़्म—

क्या ख़ूब जबीं है मत्लए-नूर
रंगे-रुख़ सुबृह जिससे काफ़ूर
शीराज़ा पैए-किताब हर नाज़
..फ़ेहरिस्ते-जरीदाहाए-एजाज़
सोह्बत में जो बारयाब हो जाये
आईनए-हया से आब हो जाये
दोनों रुख़े-साफ़ बाग़े-उमीद
गोया है क़ुरआने-माहो-ख़ुर्शीद
सीने के बयान क्या हो औसाफ़
डिबियाँ माज़ूने-माह की साफ़
क्या नूरे-अहद मिला अज़ल में
सीना है कि आईने-बग़ल में
पुरनूर शिकम है आईनए-साफ़
है चाहे-ज़क़न का अक्स वो नाफ़
चीते की कमर बहुत है मशहूर
नाज़ुक है ये उससे चश्मे-बद्दूर
तौसीफ़ हो ज़ानुओं की क्योंकर
दो पल्ला-ए-हुस्न हैं बराबर

सबसे पहली बात तो ये कि जोश साहब सिर्फ़ फ़ूँ-फ़ाँ करते रहे हैं। वो दूर-ही-दूर से जिस्म का तवाफ़(परिक्रमा) करते रहे हैं, और न कोई वाक़ई उज़्वे-बदन (शारीरिक अंग) उन्होंने देखा है और न हमें दिखा सकते हैं। मोटी-मोटी तालीमी बातों से आगे जाने की हिम्मत उनमें नहीं। 'तिलिस्म होशरुबा' से जो सरापा मैंने बिल्कुल यूँ ही सरसरी तलाश के बाद उद्धृत किया है, वो उस दास्तान के आम मेआर से ज़रा कमतर है और मैंने ऐसा जानबूझकर किया है, कि जोड़ी कुछ तो बराबर की हो, लेकिन शायरी तो दूर रही बदन के बयान में ये सरापा 'जंगल की शहज़ादी' से बहुत आगे है। इसमें जबीं(माथ), रुख़सार(गाल), सीना, बग़ल, शिकम(पेट), ज़कन(ठुड्डी, दाढ़ी), नाफ़(नाभि), कमर, ज़ानू(घुटना), इतने शारीरिक अंगों से हम दो-चार होते हैं। 'जोश' साहब मिज़्गाँ(पलकें), लब, गेसू, अबरू, अज़ार(गाल) से आगे नहीं जाते और उनका ज़िक्र भी वो अलग-अलग, ठिठक-ठिठककर, इठला-इठलाकर, रुकते-रुकते करते हैं और ज़िक्र भी सिर्फ़ नाम की हद तक। सिफ़त या सना(गुण या विशेषता) कुछ नहीं बयान करते (बल्कि बयान करने की सकत नहीं रखते)। मुहम्मद हुसैन ने अपने सरापा में तमाम शारीरिक अंगों की विशेषताएँ बयान की हैं और ज़ियादातर ऐसे अल्फ़ाज़ हैं जिनमें पैकर का अन्दाज़ नुमायाँ है। मुम्किन है कहा जाये कि जोश साहब सरापा नहीं लिख रहे हैं, वो तो लड़की के हुस्न का बयान शायराना लहजे में कर रहे हैं, यानी वो अपनी ही तरह की नज़्म लिख रहे हैं, सरापा या रस्मों से उनका कुछ लेना-देना नहीं, और न उन्हें पश्चिमी शायरी से कोई ख़ास फ़ायदा हासिल करने का दावा है।

ये कहने की ज़रूरत शायद न हो कि 'होशरुबा' वाले सरापे में मिस्रे छोटी बह्र के हैं और फिर शायर ने हर्फ़े-अत्फ़-ओ-जार(सामासिक पद), अफ़आल(क्रिया-पद) वग़ैरह लाकर बयान को उच्चकोटि का रखा है। जोश साहब की बह्र मुसम्मन है, लेकिन उन्होंने सिर्फ़

सिफ़ात(विशेषण) जमा किये हैं। उनको जोड़ने की कोशिश करते तो और मुश्किल होती। अफ़्आल वग़ैरह से ख़ाली मिस्रे ख़ूब लगते हैं अगर उनसे कोई आन्तरिक अर्थ या विशिष्ट सौन्दर्य हासिल हो। यहाँ तो कोई बीस मिस्रे सिर्फ़ फ़ेहरिस्त-ही-फ़ेहरिस्त हैं, और फ़ेहरिस्त भी गोया पंसारी की दूकान जैसी है।

ईहाम, रिआयत और मुनासिबत; उर्दू शोअरा ने मानीआफ़्रीनी के ये तीन नये तरीक़े कमो-बेश ख़ुद से दरयाफ़्त किये। ये ज़माना सत्रहवीं सदी के आख़िर और अठारवीं सदी के शुरूआत का था। फिर कोई सौ बरस तक क्लासिकी ग़ज़ल, बल्कि क्लासिकी शेर की शेरियात में कोई नया मोड़ न आया। फिर अठारवीं सदी के अन्तिम दिनों में (या ग़ालिब के साले-पैदाइश 1797 ई. से पाँच-सात बरस पहले) दिल्ली में शाह नसीर ने और लखनऊ में 'नासिख़' ने ख़यालबन्दी का आग़ाज़ किया। शाह नसीर का साले-पैदाइश नहीं मालूम, लेकिन 'नसीर-ओ-नासिख़' की तारीख़े-वफ़ात(मृत्यु का साल) एक है (1838)। उस वक़्त तक ख़यालबन्दी पूरी तरह जम चुकी थी, और इस तर्ज़ के सबसे बड़े शायर ग़ालिब ने अपनी उस्तादी क़ायम कर ली थी। 'ज़ौक़' तो पहले ही इस रंग के आशिक़ हो चुके थे, 'मोमिन' ने भी इस अन्दाज़ को एक हद तक अपना लिया था।

'मुस्हफ़ी' ने 'नासिख़' को इस तर्ज़े-नौ का मुवज्जिद(ईजाद करनेवाला) ठहराया है और 'आतिश' को, यहाँ तक कि ख़ुद को भी, इस उस्लूब(शैली) में 'नासिख़' का अनुयायी क़रार दिया है। 'नासिख़' की पैदाइश 1771/1772 की है, और उन्होंने (बक़ौल मुस्हफ़ी) बीस बरस की उम्र में (बीस क़मरी बरस यानी 1789/1790 से शेर कहना शुरू किया था। शाह नसीर 1755 और 1760 के दरमियान पैदा हुए होंगे, उन्होंने 1775 और 1780 के दरमियान शायरी शुरू की होगी। इस एतबार से शाह नसीर को ख़यालबन्दी के उस्लूब में अव्वलीयत होना चाहिए, लेकिन मुम्किन है शाह नसीर ने भी शुरू-शुरू में आम तर्ज़ (तर्ज़े-मीर और सोज़ की तर्ज़) में शेरगोई का आग़ाज़ किया हो और बाद में 'नासिख़' के रंग की तरफ़ माइल(प्रवृत्त) हुए हों। 'मुस्हफ़ी' ने तो साफ़ लिखा है कि 'नासिख़' ने 'तर्ज़े-रेख़्ता गोयाने-सादा कलाम' पर बहुत कम समय में 'ख़ते-नुस्ख़'(विभाजक रेखा) खींच दिया। इस पर तफ़्सील के लिए रशीद हुसैन ख़ाँ, दीबाचा-ए-इन्तख़ाबे-नासिख़ (मक्तबा जामिआ द्वारा प्रकाशित), मुलाहिज़ा हो। तन्वीर अहमद अल्वी का कहना है कि शाह आलम के आख़िरी ज़माने (मृत्यु 1806) तक शाह नसीर की शोहरत मुल्क में चारों तरफ़ फैल चुकी थी। 'मुस्हफ़ी' ने भी 'रियाज़ुल फ़सहा' में ऐसा ही लिखा है (तारीख़े-तर्तीब 1806), लेकिन 'मुस्हफ़ी' ने शाह नसीर को मुवज्जिद-ए-तर्ज़े-नौ नहीं कहा है। इसके बरख़िलाफ़ उन्होंने 'तज़्किरा-ए-हिन्दी' (तारीख़े-तर्तीब 1794) में शाह नसीर की दर्राकीतब्अ (प्रतिभा, बुद्धि) वग़ैरह का ज़िक्र किया है, लेकिन 'नासिख़' का उल्लेख उसमें नहीं है। इससे ये ख़याल गुज़रता है कि शाह नसीर ने 'नासिख़' के पहले अपना रंग पूरी तरह साफ़ और स्पष्ट न किया था और दोनों ही शोअरा ने कमोबेश एक वक़्त में इस तर्ज़े-नौ को अपनाया जिसे हम ख़यालबन्दी कहते हैं।

बहरहाल, ये बात बुनियादी तौर पर अहम नहीं है कि ख़यालबन्दी को उर्दू में प्रचलित करने का सेहरा शाह नसीर और 'नासिख़' दोनों के सर है या सिर्फ़ 'नासिख़' के सर। बुनियादी बात ये है कि अठारवीं सदी के आख़िर या उन्नीसवीं सदी के बिल्कुल शुरूआत में ख़यालबन्दी एक ऐसे तर्ज़ (शैली, पद्धति)के तौर पर प्रचलित हुई जिसे उर्दू-ग़ज़ल का नया मोड़ कहा जा सकता है। अठारवीं सदी के आख़िर और उन्नीसवीं सदी के शुरूआत में दिल्ली में बक़ौल मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद', इल्मे-उस्तादी शाह नसीर के ही हाथ में था; लेकिन ये भी है कि 'नासिख़' की ग़ज़ल जब-जब लखनऊ से आती थी तो 'ज़ौक़' उस पार बतौरे-ख़ास ग़ज़ल कहते थे। मुम्किन है ये बात मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने 'ज़ौक' पर शाह नसीर के असर की अहमियत कम करने की ग़रज़ से

लिखी हो, लेकिन 'नासिख़' की ज़मीनों में 'ज़ौक़' ने बहुत ग़ज़लें कही हैं।

फ़िलहाल, हम इतना कहें कि ख़यालबन्दी के उस्लूब(शैली) में सबसे बड़ा नाम और शायद सबसे पहला नाम 'नासिख़' का है, और सोचने की बात हमारे लिए ये है कि जिस तर्ज़ ने इतना रसूख़ क़ायम कर लिया था, 'मुस्हफ़ी' जैसे उस्ताद ने बुढ़ापे के आलम में भी उसको बेतकल्लुफ़ अख़्तियार किया; वो आज तक़रीब सौ साल से इतना उपेक्षित में क्यूँ है और इसका आफ़्ताबे-इक़्बाल क्यूँ इस क़दर गहना गया है कि आज बहुत-से लोग 'नासिख़' को शायर ही नहीं मानते। 'नासिख़' की बदनसीबी को भी दख़्ल होगा, क्यूँकि 'आतिश' बिल्कुल उन्हीं की तरह के शायर हैं और 'नासिख़' का शऊरी इत्बाअ(विवेकपूर्ण अनुकरण) भी उन्होंने किया है, लेकिन 'आतिश' को सच्चा और बड़ा शायर हम आज भी मानते हैं और 'नासिख़' को कोई झूठों भी नहीं पूछता। यहाँ तक कि 'इस्लाहे-बयान' जो मेरे खयाल में वाहियात और बेफ़ायदा शै, तथा आज के नामनिहाद (तथाकथित) 'उस्तादों' के नज़दीक बड़ी ज़ोरदार चीज़ है; इसका भी सेहरा 'नासिख़' के सर से उतार लिया गया। रशीद हसन ख़ाँ ने दिखाया है कि जो 'इस्लाहें' और ज़बान की जो 'तरक़्क़ी' और 'सफ़ाई-ए-ज़बान' के जो उसूल 'नासिख़' से मंसूब(सम्बद्ध) किये जाते हैं उनके बारे में न 'नासिख़' का क़ौल हमारे पास है और न उनका अमल इसकी गवाही देता है।

ये बात मेरे नज़्दीक अहम नहीं कि 'नासिख़' ने 'ज़बान की इस्लाह' की या नहीं, निश्चित रूप से नहीं की। मुझे इस बात में भी शक है कि 'इस्लाहे-ज़बान' का कोई तसव्वुर 'आबे-हयात' के प्रकाशन से पहले हमारे यहाँ प्रचलित था। शायर (यानी parole) को ज़बान के आम बोलनेवालों की अज़ीमुश्शान और मुम्किन तादाद पर (यानी langue पर) हावी क़रार देना और parole को langue से ज़ियादा श्रेष्ठ बताना, ये तसव्वुर क्लासिकी उर्दू में नहीं; मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' और 'हाली' का ईजादकर्दा है। अहम बात ये है कि 'नासिख़' (और शाह नसीर, आतिश, ज़ौक़, अस्ग़र अली ख़ाँ, दयाशंकर 'नसीम' वग़ैरह) और सबसे बढ़कर 'ग़ालिब', इन लोगों ने ख़यालबन्दी के ज़रिअे क्लासिकी उर्दू-ग़ज़ल की शेरियात में आख़िरी अहम इज़ाफ़ा किया। 'ग़ालिब' की मौत (1869) पर क्लासिकी उर्दू शेरियात का तक़रीबन दो सौ साला इतिहास समाप्त होता है।

ख़यालबन्दी को बड़ी हद तक कैफ़ियत की के बरअक्स कह सकते हैं। ख़यालबन्दी शायर माहिरे-हयातियात की तरह दूर-दूर के कुँअे झाँकता है, हर पत्थर को उलटता-पलटता है कि शायद कोई नया ज़ीरूह(प्राणवान), कोई नया पौधा, हाथ लग जाये। उसका शेर जज़्बात या महसूसात को फ़ौरी तौर पर बरंगेख़्त(उत्तेजित-उत्प्रेरित) नहीं करता, बल्कि ज़ेहनी सत्ह पर हमें मुहर्रिक(विचलित) करता और चौंकाता है। कैफ़ीयत का शायर मानी और मज़्मून से ज़ियादा जज़्बाती तास्सुर पैदा करने की तरफ़ माइल(प्रवृत्त) रहता है। उसका शेर अक्सर बज़ाहिर मानी के लिहाज़ से कमज़ोर या मानी की गहराई और तहदारी से बेनियाज़ महसूस होता है। ख़यालबन्दी और कैफ़ीयत, इन दो इस्तिलाहों के खो जाने के कारण हम ग़ालिब, नासिख़, ज़ौक़, शाह नसीर, आतिश, दयाशंकर 'नसीम' वग़ैरह शोअरा से पूरी तरह लुत्फ़-अन्दोज़ होने से क़ासिर(वंचित) रहे; और न ही हम उनके कलाम और मीर, मीर सोज़, मुस्हफ़ी, क़ायम वग़ैरह शोअरा के अक्सर कलाम के दरमियान तफ़्रीक़ करने के लिए कारआमद तरीक़ों को अपना सके। एक और नुक़्सान ये हुआ कि कैफ़ीयत के शेरों की फ़ौरी असरअंगेज़ी के कारण हमने ये मान लिया कि वही शेर अच्छा है जो दिमाग़ से ज़ियादा दिल, तख़य्युल से ज़ियादा एहसास और 'ख़ारिज' से ज़ियादा 'दाख़िल' को मुतास्सिर करे। हसरत मोहानी का शेर इसी ग़लत तसव्वुर पर मुहरे-तौसीक़ लगाता है—

शेर दरअस्ल हैं वही 'हसरत'
सुनते ही दिल में जो उतर जायें

'अज़ दिलख़ेज़द-ओ-बरदिल रेज़द' जैसे बेमानी फ़िक़रे भी हमारे यहाँ इसी वज्ह से आम हुए कि कैफ़ीयतवाला शेर फ़ौरन् जज़्बात को मुतहर्रिक करता था। अगर हमने कैफ़ीयत और ख़यालबन्दी की इस्तिलाहें भुला न दी होतीं तो हम अपने आलोचकीय आदर्शों और मानदण्डों को ज़ियादा तर्कपूर्ण और सुसंगत तरीक़े से पेश कर सकते। अब तो ये हुआ कि हमने कैफ़ीयत की इस्तिलाह न इस्तेमाल की, सिर्फ़ 'दिल में उतर जाने' और 'दिल पर असर करने' वग़ैरह की बात करते रहे और ख़यालबन्द शोअरा के कलाम को हम 'ख़ारिजीयत' और 'नस्नीयत' पर मब्नी(आधारित), या 'तसन्नो से भरपूर'(कृत्रिमतायुक्त) शायरी कहते रहे। सिर्फ़ ग़ालिब और एक हद तक 'आतिश' इस क़त्ले-आम से बच निकले। जैसा कि हम जानते हैं, ग़ालिब के बारे में 'हाली' ने, फिर अब्दुल रहमान बिजनौरी ने सनद दे दी थी कि उनकी शायरी को 'मग़्रिबी' उसूले-नक़्द और अमले-शेर की रौशनी में देखा जाय तो भी वो कामयाब ठहरती है। फिर ग़ालिब का मिज़ाज भी बीसवीं सदी के मिज़ाज से कई मुआम्लात में हमआहंग था और ग़ालिब बहरहाल 'नासिख़', 'ज़ौक़', शाह नसीर वग़ैरह के मुक़ाबले में बहुत बड़े शायर भी थे, लेकिन चूँकि हम लोग वो तरीक़े भूल चुके थे जिनको काम में लाकर 'नासिख़' और 'ज़ौक़' और शाह नसीर जैसे शोअरा की सही तअय्युने-क़द्र (गुण-निर्धारण) मुम्किन थी। इसलिए इन बेचारों को बहुत नुक़्सान पहुँचा, यानी ग़ालिब से कमतर दर्जे के शायर होने के आधार पर इन्हें नाशायर या ग़ैरशायर ही क़रार दे दिया गया। उधर 'नासिख़'-ओ-'ज़ौक़' से कमतर दर्जे के शोअरा मस्लन् इन्आम उल्ला ख़ाँ 'यक़ीन', अब्दुल हई 'ताबाँ' वग़ैरह को 'नासिख़'-ओ-'ज़ौक़' से बेह्तर कह दिया गया, सिर्फ़ इसलिए कि 'यक़ीन'-ओ-'ताबाँ' वग़ैरह के अश्आर 'दिल को छूते थे'।

'आतिश' की शोह्रत क़ायम करने का सेहरा मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' के सर है। 'आतिश' और 'नासिख़' एक ही तरह के शायर थे ('मुस्हफ़ी' ने इस हक़ीक़त की तरफ़ बहुत पहले इशारा कर दिया था)। 'आज़ाद' ने 'आतिश' के क़लन्दराना सिफ़ात का तज़्किरा कुछ इस वालिहाना अन्दाज़ (प्रेमपूर्वक) में किया कि 'आतिश' की शख़्सियत का एक निहायत ख़ुशगवार पैकर हमारे ज़ेह्नों में 'क़ायम' हो गया। 'हाली' और 'आज़ाद'-ओ-शिब्ली सब के यहाँ ये बात तन्क़ीदी उसूल की तरह जारी थी कि शायरी चूँकि वास्तविक शख़्सियत का इज़्हार है, इसलिए जिस शायर की शख़्सियत दिलकश होगी, उसकी शायरी भी दिलकश होगी। लिहाज़ा 'आतिश' के ज़ाती किरदार की क़लन्दराना, सूफ़ियाना, बाँकी सिफ़ात उनकी शायरी में भी फ़र्ज कर ली गयीं। वर्ना वाक़िआ ये है कि 'नासिख़'-ओ-'आतिश' का कलाम तख़ल्लुस हटाकर पढ़ा जाये तो दोनों में बहुत कम फ़र्क़ दिखायी देगा। 'नासिख़' के यहाँ संवेदनशीलता और ख़ुशतबई 'आतिश' से ज़ियादा है और 'आतिश' के यहाँ जिंसीयत(ऐन्द्रिकता) 'नासिख़' से ज़ियादा है। 'नासिख़' के मज़ामीन 'आतिश' के मुक़ाबले में ज़ियादा ताज़ा और तज्रीदी (abstract) हैं, लेकिन ये बातें पूरा दीवान ग़ौर से पढ़ने पर खुलती हैं, वर्ना निम्नलिखित शेरों को देखिए—

सैरे-मैदाने-अदम को जो मेरा दिल दौड़ा
बाद बनकर मैं पसे-तौसने-क़ातिल दौड़ा
न हुई बादे-फ़ना भी मुझे आफ़त से निजात
फाड़ खाने को सगे-कूचए-क़ातिल दौड़ा
अब्र साँ गिर्द जो उठ्ठी फ़र्से-क़ातिल की
बर्क़ की तरह मैं पाबन्दे-सलासिल दौड़ा
मंज़िले-इश्क़ की वो राह है, रखते ही क़दम
बन के कज़्ज़ाक़ हर इक हूर शमाइल दौड़ा

मंज़िले-शौक़ में कुछ भारी हुआ दिल मुझको
मैं समझता हूँ बग़ल में लिए इक सिल दौड़ा

हर शेर में 'ख़ारिजीयत' नुमायाँ है। हर शेर में दूर अज़ कार बात कहने की कोशिश है, लेकिन तीसरे शेर के सिवा किसी में भी बयान तर्कपूर्ण और मज़्मून वाक़ई ताज़ा नहीं है। कहा जा सकता है कि किसी ख़यालबन्द शायर ने ख़ासी कोशिश करके मुश्किल रदीफ़ में पाँच शेर निकाले हैं जो साफ़ और शिगुफ़्ता तो हैं, लेकिन एक के सिवा (शेर-3) किसी में कोई ख़ास बात नहीं। अश्आर बहरहाल एक ही शायर के हैं।

उपयुर्क्त फ़ैसला हर दृष्टिकोण से सही है, सिवाय इसके कि ये ग़ज़ल किसी एक शायर की है। हक़ीक़त ये है कि ये अश्आर तीन शायरों के हैं—

शेर 1 और 3 : 'नासिख़'
शेर 2 और 4 : 'आतिश'
शेर 5 : 'आबाद'

ये वही 'आबाद' लखनवी हैं जिनके बारे में सआदत ख़ाँ 'नासिर' ने लिखा है कि जब मैंने उनसे कहा कि मैंने अपने तज़्किरे में आपको 'नासिख़' का शागिर्द लिखा है तो वो खफ़ा हुए और बोले कि— ''अपना ही शागिर्द लिखा होता।'' जब सआदत ख़ाँ 'नासिर' ने वज़ाहत चाही तो 'आबाद' ने कहा कि ''अब हम 'नासिख़' से अच्छे हैं।'' ख़ैर, ये बात तो अलग रही, सोचने की बात ये है कि आज क्या वज्ह है कि इन तीनों में गहरी एकरूपता के बाद भी लोग आमतौर पर 'आतिश' को बड़ा शायर, 'नासिख़' को नाशायर और 'आबाद' को बहुत कम जानते हैं? क्या हमें अपनी तारीख़नवीसी (इतिहास-लेखन)और शेरशनासी(शेर की समझ या बोध) पर नज़रे-सानी(पुनर्विचार) की ज़रूरत नहीं?

ग़ालिब ने ख़यालबन्दी को मेराजे-कमाल तक पहुँचा दिया। उनके ज़माने में 1857 ई. की घटना घटित हुई, जिसने हमारी तारीख़े-अदब के क्रम को भंग कर दिया। क्लासिकी शेरियात, क्लासिकी जीवन-दृष्टि, क्लासिकी तसव्वुरे-कायनात; इन सब चीज़ों पर सवालिया निशान लग गया। फिर इनमें से ज़ियादातर को त्याग करने और भुलाने की कोशिशें हुईं, और ये कोशिशें इस हद तक कामयाब हुईं कि क्लासिकी अदब का ज़ियादातर हिस्सा हमारे लिए बेमानी या बेरूह और ग़ैरज़रूरी होकर रह गया। क्लासिकी अदब के जो अज्ज़ा-ओ-अनासिर(तत्त्व) क़ुबूल भी किये गये, तरह-तरह की शर्तों और पाबन्दियों के साथ क़ुबूल किये गये। 'मीर' और 'सौदा' के कलाम से इन्तख़ाब की मिसाल सामने की है और 'सौदा' की हज्वयात(निन्दागान) के बारे में मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' की राय भी हमारे सामने है। कुछ अस्नाफ़(विधाएँ), मस्लन् मस्नवी वग़ैरह सिर्फ़ किताबों तक सीमित होकर रह गयीं और उनके भी चन्द ही नमूने मक़्बूल ठहरे। क़सीदा तक़्रीबन सारे का सारा रद्द हो गया। अँग्रेज़ों की तक़्सीमी पॉलिसी और देहली/लखनऊवालों के पक्षपातपूर्ण कारणों से क्लासिकी अदब का एक बहुत बड़ा हिस्सा और क्लासिकी अदब की तारीख़ का तक़्रीबन तीन सौ बरस का कारनामा हमारे लिए बेवजूद या फिर त्याज्य और निम्नस्तरीय ठहरा। आज भी आप उर्दू-शायरी के बड़े नामों का तसव्वुर करें तो 'वली' तक ज़ेह्न में नहीं आते। 'नुस्रती', 'वजही', 'हाशमी', 'ग़वासी', 'ख़ूब' मुहम्मद चिश्ती और अली मुहम्मद ज्योगामधनी वग़ैरह का तो ज़िक्र ही क्या है। हममें से अक्सर के लिए उर्दू-नस्र की तारीख़ 'मीर' से शुरू होती है। तारीख़ और नज़रिये का ये सिमटाव हमारे लिए अत्यन्त दुखदायक साबित हुआ।

1857 ई. के तह्ज़ीबी इन्क़िताअ(सांस्कृतिक संक्रमण) का एक नतीजा ये हुआ कि हम लोगों ने एतबार कर लिया कि हमारे यहाँ आलोचना, ख़ासकर दृष्टिकोणयुक्त आलोचना और शेरियात(काव्यशास्त्र) थी ही नहीं। लिहाज़ा ये चीज़ें हमें अपनी कोशिशों से ईजाद करनी पड़ेंगी।

'आज़ाद', 'हाली', इम्दाद इमाम 'असर', शिब्ली और बाद में तबातबाई और हसरत मोहानी के लेख उसी शेरियात के निर्माण का प्रयास हैं। इस शेरियात में उर्दू के क्लासिकी तसव्वुरात बहुत कम थे, जो थे भी उन्हें पूरी सेहत के साथ पेश नहीं किया गया था, और कुछ को तो सरासर ग़लत या मज़हकाख़ेज़(हास्यास्पद) क़रार दिया गया; मस्लन् शिबली जैसे असाधारण चिन्तक-विचारक ने अपनी शेरियात का आधार कुछ अरबी, कुछ अँग्रेज़ी, कुछ यूनानी और कुछ संस्कृत विचारों पर रखी, लेकिन उन्होंने उर्दूवालों के ख़यालात के बारे में ये विचार दिया कि गोया वो हैं ही नहीं, और अगर हैं भी तो वो महज़ 'झूठी रिआयते-लफ़्ज़ी' और 'ग़ैर वाक़ई या ग़ैर अक़्ली' शायरी को फ़रोग़ देते हैं, लिहाज़ा इनसे बचना चाहिए। सब्के-हिन्दी(Indian style of Persian poetry) की फ़ारसी शायरी सत्रहवीं सदी से लेकर 1857 की क्रान्ति तक उर्दू शायर के लिए नमूने और मिसाल का काम देती रही थी, लेकिन शिब्ली ने अपनी अहदसाज़(युगान्तरकारी) किताब 'शेरुल अजम' में सब्के-हिन्दी को बहुत कम अहमियत दी। अक्सर शोअरा ख़ासकर उसके बड़े हिन्दुस्तानी शोअरा मस्लन् 'ग़नी', 'सरख़ुश', नासिर अली 'बेदिल, 'आज़ाद' बिलग्रामी, ग़ालिब वग़ैरह के ज़िक्र से 'शेरुल अजम' के सफ़हात ख़ाली हैं। इसका नुक़्सान ख़ुद शिब्ली को भी उठाना पड़ा, लेकिन उससे बहुत ज़ियादा नुक़्सान क्लासिकी उर्दू-ग़ज़ल का हुआ कि उसको समझने-समझाने के अस्ल हवाले हमारी नज़रों से ओझल हो गये।

हमारी क्लासिकी ग़ज़ल की शेरियात में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसे ग़ज़ल के लिए आज भी न इस्तेमाल किया जा सकता हो। लिहाज़ा ये बिल्कुल मुम्किन है कि ग़ज़ल जदीद भी हो और क्लासिकी उसूलों की पाबन्दी भी करे। ये इस वज्ह से कि जदीद ग़ज़ल गज़ल की बुनियादी सिफ़त मज़्मूनआफ़रीनी है और मज़्मूनआफ़रीनी के लिए क्लासिकी ग़ज़ल की रवायती लफ़्ज़ियात (शब्दावली) की पाबन्दी ज़रूरी नहीं। ग़ज़ल की दुनिया जिन परिकल्पनाओं और अवधारणाओं से आधारित है वो बहरहाल मौजूद रहेंगे। दर हक़ीक़त क्लासिकी शेरियात की पाबन्दी शेर की ख़ूबी के लिए बड़ी हद तक प्रामाणिक और कारगर हो सकती है। हाँ, जदीद नज़्म(यानी जदीदियत की परवर्दा नज़्म) के लिए क्लासिकी ग़ज़ल की शेरियात की पाबन्दी ज़रूरी नहीं। आज ग़ज़ल और नज़्म में यही फ़र्क़ सबसे ज़ियादा अहम कहा जा सकता है कि जदीदियत की क़ायमकर्दा नज़्म ने अपने लिए अलग से एक शेरियात निर्मित की है और जदीद नज़्म को समझने के लिए उसका हवाला ज़रूरी है।

(मूल उर्दू से लिप्यन्तरण : दीपक रूहानी)

शहज़ाद अंजुम
प्रोफेसर, उर्दू-विभाग
जामिआ मिलिया इस्लामिया
जामिआ नगर, नयी दिल्ली
मो.- 09871487550

मूलतः बिहार प्रान्त के गया जनपद के रहनेवाले शहज़ाद अंजुम लम्बे समय से जामिआ मिलिया इस्लामिया, दिल्ली के उर्दू-विभाग से सम्बद्ध हैं। इनके निर्देशन में दर्जन भर से अधिक शोधार्थी डॉक्ट्रेट कर चुके हैं। उर्दू -फ़िक्शन और आलोचना पर अंजुम साहब की लगभग 25-30 किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्होंने उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और मुक्तिबोध की कुछ रचनाओं का उर्दू में अनुवाद भी किया है। रवीन्द्रनाथ टैगोर पर 15 किताबों का सम्पादन-लेखन किया है।

अज़हर इनायती ऐसे शायर हैं जिनको एक बार सुनने-पढ़ने के बाद अनिवार्य रूप से इनका कोई-न-कोई शेर याद हो जायेगा। जहाँ तक मैंने अज़हर इनायती की लगभग 300 ग़ज़लों का अध्ययन किया है, वहाँ तक मुझे साफ़ तौर पर समय के साथ-साथ इनकी शायरी का रंग बदलता नज़र आया है। जो पुरख़ुलूस और मुहब्बत का अन्दाज़ इनकी शायरी में है, वही हू-ब-हू सामान्य व्यवहार और लोगों से बातचीत में भी है। पाकिस्तान के जाने-माने शायर अहमद नदीम क़ासिमी ने अज़हर साहब के लिए लिखा है- ''अज़हर इनायती की ग़ज़ल की हैसियत इस सहरा में नख़्लिस्तान की-सी है। वो सरासर जदीद ग़ज़लगो हैं, मगर उनकी जिद्दत उर्दू-ग़ज़ल की अज़ीम और रौशन रवायत को साथ लेकर चलती है। वो बग़ावत नहीं इज्तिहाद करते हैं।''

डॉ. शहज़ाद अंजुम

अज़हर इनायती का शेरी मंज़रनामा

ग़ालिब जब रामपुर पहुँचे तो सारा शह्र उन्हें दारुस्सुरूर नज़र आया और कोसी नदी की लहरों में चश्मए-आबे-हयात की सदाबहार ताज़गी और तस्नीम-ओ-कौसर की शीरीनी रवाँ-दवाँ मह्सूस हुई। इसलिए वो बेअख़्तियार कह उठे— 'जो लुत्फ़ यहाँ है वो कहाँ है।' अगस्त 1955 ई. की एक सहपहर जब मैं गवर्नमेण्ट वीमंस पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज ज्वाइन करने के लिये रामपुर स्टेशन पहुँचा तो ग़ालिब की याद मेरे ज़ेह्न में न सिर्फ़ ताज़ा हुई, बल्कि स्टेशन से जब शह्र की जानिब रवाना हुआ तो उनके मह्सूसात मेरे साथ-साथ चल रहे थे और मैं दारुस्सुरूर की कैफ़परवर फ़ज़ा को लम्हा-लम्हा आँखों के गोशों में मह्फ़ूज़ करता आगे बढ़ रहा था कि मेरी मुलाक़ात अज़हर इनायती से हो गयी। मुझे मह्सूस हुआ कि मैं रामपुर की तह्ज़ीबी, शक़ाफ़ती, तमद्दुनी और अदबी धड़कनों की किसी जूए-नग़माख़्वाँ के दरमियान खड़ा हूँ और सुरूरो-निशात की एक न ख़त्म होनेवाली ठण्डक मेरी रूह की गहराइयों में उतरती चली जा रही है। दरअस्ल अज़हर इनायती एक ऐसे शायर हैं जिनके कलाम में ज़िन्दगी झूम-झूमकर बरस रही है। ये ज़िन्दगी रामपुर की अज़ीम रवायतों की अमीन भी है और असासी तौर पर आलमगीर सच्चाईयों को अपने दामन पर सजाये हुए भी है। अज़हर इनायती के चन्द अश्आर मुलाहिज़ा हों—

आ थोड़ी देर बैठ के बातें करें यहाँ
तेरे तो यार लहजे में अपना-सा दर्द है

होती हैं रोज़-रोज़ कहाँ ऐसी बारिशें
आओ कि सर से पाँव तलक भीग जायें हम

रास्तो! क्या हुए वो लोग जो आते-जाते
मेरे आदाब पे कहते थे कि जीते रहिये

रोज़ कुछ सोचती रह जाती हैं मेरी नज़रें
रोज़ कुछ लोग गुज़रते हैं सवालों की तरह

रुख़्सत तो कर दिया उसे हँसते हुए मगर
आँखों में इक अजीब-सा डर तैरता रहा

लोग यूँ कहते हैं अपने क़िस्से
जैसे वो शाहजहाँ थे पहले

शायरी विषय-वस्तु का सादा-सादा इज़्हार नहीं और न ही ज़बानो-बयान का महज़ चटख़ारा है। शायरी सिर्फ़ फ़न की महारत का इज़्हार भी नहीं और न शायरी जज़्बात की यल्ग़ार का मुज़ाहिरा है। शायरी तो मह्सूसात का जादू है, मगर इस जादू को ख़ूबसूरत ज़बान न मिले तो वो सर चढ़कर नहीं बोलता। अज़हर इनायती के पास मह्सूसात का जादू भी है और ख़ूबसूरत ज़बान भी, इसलिए उन्हें भीड़ में बस एक नज़र में पहचाना जा सकता है—

वही दरवाज़ा, वही घर, वही मैं हूँ लेकिन
कौन रहता है यहाँ किसको सदा दी जाये

अभी नाआश्ना है ज़िन्दगी से
अभी बच्चा मेरा हँसता बहुत है

रोज़ आती है एक शख़्स की याद
रोज़ इक फूल तोड़ लाता हूँ

अज़हर इनायती की नज़रों में एक वसीअ जहाँ है। देश की पगडण्डियों और शाहराहों के साथ-साथ उन्होंने मुमालिके-ग़ैर(विदेशों) की वसीअ-ओ-अरीज़ सड़कों और बादलों को छूती हुई इमारतों और उनमें रहनेवाले मकीनों को भी बेहद क़रीब से देखा है। वो जहाँ से भी गुज़रते हैं, ज़िन्दगी के मुख़्तलिफ़ रंगों पर महज़ उचटती निगाह नहीं डालते, बल्कि उनकी निगाह तहैया की नाहमवारी और गुदाज़ को भी जैसे छूकर देख लेती है—

कौन इन मंज़रों को देखेगा
मैं भी तेज़ी से जो गुज़र जाऊँ

ये मुसाहिब हैं इन्हें इसका हुनर आता है
शह की बातों में रफ़ू कैसे किया जाता है

अज़हर इनायती ज़िन्दगी से बड़ी उम्मीदें वाबस्ता करके उसे अपनी दोनों बाहों में भर लेना चाहते हैं। अपने इस ख़ुलूस के एवज़ वो महज़ ख़ुलूस चाहते भी हैं, लेकिन ज़िन्दगी जब रुख़ बदलती दिखायी देती है तो वो तंज़ की कमान चढ़ा लेते हैं और फिर जो तीर उस कमान से निकलते हैं उनका निशाना ख़ता नहीं होता—

तोड़ने निकला था जो शख़्स सहारों का तिलिस्म
आज घर तक वही दीवार पकड़कर आया

कल इसे कौन पढ़ेगा अज़्हर
नाम उर्दू में लिखा है मेरा

मैंने जब शह्र में इज़्ज़त पायी
मुझसे हर शख़्स के रिश्ते निकले

ख़बर इक घर के जलने की है लेकिन
बचा बस्ती में घर कोई नहीं है

अज़हर इनायती एक गुदाज़ दिल के मालिक हैं। उनके मह्सूसात के इज़्हार का लहजा भी आमतौर पर नरम है। वो ज़िन्दगी का गुलाब सदा खिलता हुआ देखना चाहते हैं, मगर जब रानाइयों और शादाबियों की राहों में काँटे बिछाये जाते हैं तो वो तड़प उठते हैं और फिर उनके मह्सूसात के गुदाज़ और उनकी हस्रतों से बड़े पुरअसर शेरी पैकर में ढलते हैं—

जिसे खोया है मैंने क़हक़हे में
वो मिल जाय तो मैं जी भर के रो लूँ

इस रास्ते में जब कोई साया न पायेगा
ये आख़िरी दरख़्त बहुत याद आयेगा

शिकस्त ख़्वाब की परछाइयाँ हैं
मेरी आँखों में वीरानी नहीं है

अब के तेज़ बारिश भी इक अजाब थी लेकिन
बेशतर मकानों के रंग भी तो कच्चे थे

अज़हर इनायती जदीद अहद में साँसें ले रहे हैं, जिसका उन्हें अच्छी तरह एहसास भी है और इधर की ग़ज़लों में उनके लहजे और उस्लूब(शैली) में इस तब्दीली को देखा भी जा सकता है। इसके बावजूद इनकी ग़ज़लों में रवायतों का एहतराम स्पष्ट रूप में मिलता है। ऐसा लगता है कि अपनी शानदार अदबी रवायतों के काँधों पर खड़े होकर ही आसमानों की बुलन्दियों को वो बाँध लेने का हौसला रखते हैं। रवायतों का ये एहतराम ख़ुश्क अन्दाज़ में नहीं है, बल्कि उसमें भी एक मौलिकता और नवीनता है—

चराग़ हो तो जले जाओ ऐतमाद के साथ
यहाँ हवाओं का रुख़ तो बदलता रहता है

बूढ़े सय्याह बता! तूने तो देखी होगी
ऐसी दुनिया कि जहाँ प्यार किया जाता है

ख़ुदकुशी के लिए थोड़ा-सा ये काफ़ी है मगर
ज़िन्दा रहने को बहुत ज़हर पिया जाता है

इज़्हार पर तो पहले भी पाबन्दियाँ न थीं
लेकिन बड़ों के सामने हम बोलते न थे

मेरे चराग़ को जलता न देखने के लिए
अजब हरीफ़ है आँधी के इन्तिज़ार में है

तह्ज़ीबी विशेषताओं के ऐसे नुमाइन्दा अश्आर किसी एक शायर के यहाँ बहुत कम ही मिलते हैं, जिनमें बेशक़ीमत तह्ज़ीबी विरसे के खो जाने का शदीद एहसास हो और ये एहसास निरर्थक ज़िन्दगी को सार्थक ज़िन्दगी बनाये रखने के लिए बड़ा ज़रूरी होता। इसके बग़ैर हमारा सिल्सिला बेहिसी और बेज़मीरी की सरहदों से मिल जाता है, ग़रज़ कि हर शेर अपनी जगह मुकम्मल और भरपूर है। दरअस्ल अज़हर इनायती रामपुर की अज़ीम तह्ज़ीब से वाबस्ता-ओ-पैवस्ता हैं और इनका

ख़ानदान वज़्अदारी, समाजी रवाबित(सामाजिक सम्बन्ध) में रवादारी, भाईचारा, मुहब्बत, शफ़क़त का एक बड़ा पसमंजर रखता है, इसीलिए ऐसे मौज़ूआत उनके ज़ेह्न में कुनमुनाने लगते हैं और वो अश्आर के पैकरों में ढलते जाते हैं। आम अल्फ़ाज़ और मुहाविरे का सटीक इस्तेमाल करने का हुनर अज़हर इनायती को ख़ूब आता है। रवायतों के साथ-साथ अज़हर इनायती के यहाँ समकालीन संवेदना की धड़कनें भी साफ़ सुनी जा सकती हैं। इनके यहाँ इंसानियत का दर्द भी है और इंसान की क़दआवरी की तमन्ना भी। इस तरह रवायत, जिद्दत और नये तज्रबात ने मिलकर उनकी शायरी को मज़ीद पुरकशिश बना दिया है। इनके अश्आर पन्नों से ज़ेह्नों, होंठों और दिलों में जाकर जम गये हैं। चन्द अश्आर मुलाहिज़ा हों–

तू शह्र भर के जलते चराग़ों का क़त्ल कर
मैं सरफिरी हवा तुझे बादे-सबा कहूँ

पढ़े-लिखों का सफ़र भी अजीब होता है
कि इक किताब पढ़े दूसरा पढ़े चेह्रा

मिट रही है यहाँ ज़बानो-ग़ज़ल
और ग़ालिब का जश्न जारी है

समकालीन संवेदनाओं का दायरा अज़हर इनायती के यहाँ सिर्फ़ समाजी और अदबी दायरों तक मह्दूद नहीं, बल्कि वो शक़ाफ़ती, तह्ज़ीबी और सियासी मंज़रों को भी अपने मह्सूसात की अँगुलियों से स्पर्श करते हैं और उन्हें शेरी क़ालिब(ढाँचा) अता करते हैं। इससे अज़हर की वसीअ उल् नज़री (व्यापक दृष्टिकोण) के साथ-साथ उनके फ़िक्री रुख़ और हौसले का भी तअय्युन (निर्धारण) होता है–

अब हर इक शख़्स की आँखें हैं धुँएं की आदी
अब लगे आग तो आँखें कोई मलता कब है

अभी आँधी पे 'अज़हर' तब्सिरे हैं
चराग़ों की ख़बर कोई नहीं है

तश्त में रख दिये ज़ालिम ने सरों के मंज़र
देखने के लिए अब कोई 'ज़फ़र' भी आये

लहू जो बह गया वो भी सजा के रखना था
जो तेग़ो-तीर अजाएब घरों में रक्खे हैं

आमतौर पर अज़हर इनायती के कलाम का मुताला(अध्ययन) करते वक़्त हमारे कुछ नाक़िदीन (आलोचकों) ने उनकी ग़ज़लों में तह्ज़ीबी क़द्रों की गुफ़्तगू बड़े ज़ोर-शोर के साथ की है। अज़हर साहब के कलाम में एक नुमायाँ ख़ूबी है, जिससे बहरहाल इन्कार नहीं किया जा सकता। इसके साथ-साथ अज़हर इनायती की ग़ज़लों में आज की ज़िन्दगी के रंग-बिरंगे पहलुओं को बहुत मश्शाक़ी(कुशलता) और चाबुकदस्ती(दक्षता) के साथ उजागर किया गया है। इन्होंने ज़िन्दगी के समकालीन विषयों और उसके मसाएल पर बड़ी तवज्जो दी है। जिसका इज़्हार इनके यहाँ जा-ब-जा मिलता है। हालाते-ज़माना और अपने गिर्दो-पेश से वो बेहद मुतास्सिर(प्रभावित) हैं और

उन लम्हात-ओ-वाक़िआत से सरसरी नहीं गुज़रते, बल्कि उनकी मुख़्तलिफ़ जिहात(different dimensions) और उनके प्रभावों पर भी रौशनी डालते हैं। चन्द अश्आर मुलाहिज़ा हों–

अब तो शहरों में भी ज़िन्दा हैं कुछ ऐसे हम लोग
जंग में जैसे महाज़ों पे जिया जाता है

जब्रे-तारीख़ तो बहाना है
नफ़रतें ज़ेहने-बादशाह में हैं

पक्के घरों ने नींद भी आँखों की छीन ली
कच्चे घरों में रात को हम जागते न थे

कुछ-न-कुछ संग तहफ़्फ़ुज़ को तो मैं भी रख लूँ
मुस्तमिल भीड़ ये मुम्किन है इधर भी आये

अज़हर इनायती की ग़ज़ल के मज़ामीन का कैनवस बहुत वसीअ(व्यापक) है और इनके अश्आर का मुताला इनके तमाम वास्तविकताओं तथा यथार्थ को सामने रखकर करने की ज़रूरत है। मुल्की मंज़रनामे के साथ-साथ असरी आलमी मंज़रनामे(समकालीन वैश्विक परिदृश्य) में भी सियासी, तह्ज़ीबी, अख़्लाक़ी, तिजारती; हर सत्ह पर एक भूचाल आ चुका है। इन हालातो-वाक़िआत को अज़हर इनायती ने निहायत ही प्रभावशाली ढंग और ख़ुशउस्लूबी (प्रसाद-शैली) से ग़ज़ल बनाया है–

वो जलता घर है मुझसे दूर लेकिन
धुँआ आँखों में भरता जा रहा है

अब कोई शह्र उजड़ता है तो ये लगता है
जैसे उस शह्र को आबाद किया था मैंने

अजब सफ़र है मुझे भी पता नहीं 'अज़हर'
कि अगले मोड़ पे किरदार मेरा क्या होगा

अज़हर इनायती अपनी शायरी में ज़िन्दगी के मुख़्तलिफ़ ज़ेह्नों और मुख़्तलिफ़ रंगों का मुताला बेहद क़रीब से करते हैं और उन्हें शिद्दत से मह्सूस करते हैं। इससे इंसानों की मुख़्तलिफ़ शक्लें और ज़िन्दगी के मुख़्तलिफ़ रूप उभरकर सामने आते हैं–

अब ये मेयारे-शहरयारी है
कौन कितना बड़ा मदारी है

सर्दमेह्री का बड़े लोगों से शिकवा है ग़लत
ऊँचे पर्वत हों तो फिर बर्फ़ पिघलता कब है

अजीब चीज़ है ये नफ़रतों का पौधा भी
कोई भी रुत हो शिगूफ़ा निकलता रहता है

रुत भी सर्दी की है और ये भी नहीं है मुम्किन
रात के वास्ते कुछ धूप बचाकर रख लूँ

वुस्अतें लेके क्यूँ नहीं आते
लोग जाते तो हैं समन्दर पर

ज़ेहानतों को कहाँ वक़्त ख़ूँ बहाने का
हमारे अहद में किरदार क़त्ल होते हैं

लिपट गये हमें फिर घर के झूठे हंगामे
जो शोरे-कूचए-बाज़ार से निकल आये

जो लम्हा-लम्हा तजस्सुस बढ़ाना चाहता है
ख़ुदा हमारी समझ में भी आना चाहता है

इन अश्आर से एक बात जो उभरकर साफ़ तौर पर सामने आती है वो ये कि अज़हर इनायती ज़िन्दगी की सदाक़तों(सच्चाइयों) के शायर हैं और ज़िन्दगी की सच्चाइयों का बयान इनकी शायरी में अपनी पूरी आबो-ताब के साथ जल्वागर है और अपने इस अन्दाज़ में वो उक्तिवैचित्र्य, औपचारिकता और गूढ़ार्थता का सहारा नहीं लेते, बल्कि उसे ऐसे दिलनशीं अन्दाज़ और अदा के साथ बयान कर जाते हैं जिससे क़ारी या सामईन (पाठक या श्रोता) को ऐसा लगता है जैसे ये भी उसी के दिल में है। ज़िन्दगी के उतार-चढ़ाव पर अपने क़दमों के निशानात बनाते और कायनात की सरमस्तियों, निशात और वालिहानापन को अपने बाज़ुओं में समेटे अज़हर इनायती आज की इस ख़ुदग़र्ज़ भीड़ में सभी से बढ़कर मिलते हैं, मगर अपनी वज़्अ, अपनी अदा और अपने बाँकपन के साथ। वो अपनी अना का सौदा नहीं करते—

तंग होता है तो हो जाय मरासिम का हिसार
शाख़े-गुल हम भी नहीं हैं कि लचकते जायें

डरता रहता हूँ ख़ुद भी 'अज़हर ख़ाँ'
अपने अन्दर के इस पठान से मैं

अज़हर इनायती के लहजे की इन्फ़िरादियत(विशिष्टताओं) के हवाले से हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के कई अहम नाक़िदीन ने इत्तिफ़ाक़ किया है। ख़ुद अज़हर इनायती को भी अपने लहजे के मुन्फ़रिद (विशिष्ट) होने का शदीद एहसास है, जिसका इज़्हार इनके यहाँ बड़ी नुद्रत के साथ हुआ है, मस्लन्—

लोग पहचान लिया करते हैं जाने कैसे
मेरी आवाज़ का क़द भी नहीं, चेह्रा भी नहीं

मैं इक फ़क़ीर हूँ पहचान इक सदा है मेरी
वो बादशाह थे जो लश्करों से जाने गये

मेरी आवाज़ को मह्फ़ूज़ कर लो
कि मेरे बाद सन्नाटा बहुत है

उसी की देन ख़राशें हैं मेरे लहजे की
वो आदमी जिसे मैंने ग़ज़ल बनाया था

अज़हर इनायती का कमाल ये भी है कि इन्होंने मंज़रनिगारी और तस्वीरकारी के हवाले से भी ऐसे हसीन और लाज़वाल शेरी पैकर अता कर दिये हैं जो सिर्फ़ काग़ज़ पर ही नहीं ज़ेह्नो-दिल में भी मह्फ़ूज़ रहेंगे–

हाथ में हाथ हवाओं के लिये
हम भी क्या अब्रे-रवाँ थे पहले

हवा तस्वीकरकारी कर रही है
वो चेह्रा बन रहा है बादलों में

तमाम शह्र में किस तरह चाँदनी फैली
कि माहताब तो कल रात मेरे घर में था

जब से उस दस्ते-हिनाई को छुआ है मैंने
हाथ जिस चीज़ पे रखता हूँ महक जाती है

अज़हर इनायती के यहाँ शायरी में जो ज़िन्दगी की न ख़त्म होनेवाली हरारत है, उनकी शैली में जो ताज़गी और मौलिकता है, उनकी फ़िक्र में जो गहराई-ओ-गीराई और संसार का निरूपण है वो उनकी वैचारिक और बौद्धिक विशेषता है। वो जब भी कमाने-फ़िक्र में तीर रखते हैं तो अपना निशाना भी आलमगीर रखते हैं।

(मूल उर्दू से लिप्यन्तरण : नूरुल एस. अंसारी)

वसीम अनवर
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, उर्दू-विभाग
डॉ. हरी सिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.) मो.- 09301316075

वसीम अनवर तरक़्क़ीपसन्द उर्दू–अदब से जुड़े युवा आलोचक हैं। तरक़्क़ीपसन्द तह्रीक से जुड़े विभिन्न शायरों पर दर्जनों लेख लिख चुके हैं। साहित्य में तरक़्क़ीपसन्दी के अतिरिक्त सूफ़ीज़्म, तुलनात्मक अध्ययन, साहित्य के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा दर्शन इत्यादि से जुड़े विषयों पर भी वसीम अनवर प्राय: कुछ–न–कुछ सार्थक लेखन करते रहते हैं। इनकी किताब 'कैफ़ी आज़मी : शख़्सियत, शायरी और अहद' काफ़ी चर्चित रही।

मजरूह सुल्तानपुरी उन गिने–चुने शायरों में हैं, जिनके जुड़ने से तरक़्क़ीपसन्द तह्रीक अदबी दायरों से निकलकर सामान्य पाठकों और श्रोताओं तक पहुँच सकी। मजरूह की शोह्रत का फ़ायदा इस तह्रीक को परोक्ष–अपरोक्ष ढंग से प्राय: मिलता रहा। यही नहीं, मजरूह स्वयं इस तह्रीक के प्रति गम्भीर थे और तमाम अन्तर्विरोधों और विरोधाभासों के बावजूद अन्त तक इससे जुड़े रहे। यहाँ मजरूह पर वसीम अनवर का लेख अत्यन्त संक्षेप में उनसे जुड़े विभिन्न पहलुओं पर सूत्रात्मक ढंग से संकेत करता है।

डॉ. वसीम अनवर

मज्रूह सुल्तानपुरी पर एक तब्सिरा

तरक़्क़ीपसन्द ग़ज़लगो शोअरा में मज्रूह सुल्तानपुरी एक अहम और विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनका अस्ल नाम अस्रार हसन ख़ाँ था। 1919 ई. में गुजहड़ी गाँव, ज़िला सुल्तानपुर उ. प्र. में पैदा हुए, इब्तिदाई तालीम अरबी और फ़ारसी में हुई। पेशे से हकीम थे, लेकिन शेरो-शायरी के शौक़ ने पेशा छोड़ देने पर मज्बूर कर दिया। मुशायरों में शिरकत करते और कलाम के असर और तरन्नुम के जादू से मुशायरे लूट लेते थे। इसी ज़माने में मज्रूह को 'जिगर' की सरपरस्ती हासिल हुई, लेकिन शायरी पर 'जिगर' का कोई ख़ास असर नज़र आता है। 'जिगर' साहब अपने साथ इस नौजवान शोअरा को मुशायरों में ले जाते थे। इसी दौरान 1944 ई. के एक मुशायरे में शिरकत के लिए जिगर के साथ मज्रूह बम्बई गये और वहीं के होकर रह गये। फ़िल्मी दुनिया से बतौर नग़्मानिगार वाबस्ता होकर ग़ैरमामूली शोहरत हासिल की। 24 मई 2000 ई. को 81 साल की उम्र में मुम्बई में मज्रूह का इंतक़ाल हो गया।

मज्रूह ख़ालिस ग़ज़लगो शायर हैं। मज्रूह का तख़्लीक़ी सफ़र(सृजन-यात्रा) आधी सदी से ज़ियादा तवील अरसे तक फैला हुआ है, लेकिन उन का अदबी सरमाया बहुत ही मुख़्तसर है। उनकी ग़ज़लों की कुल तादाद कमो-बेश पचास होगी। इब्तिदा में उन्होंने कुछ नज़्में, गीत, नात, मन्क़बत और हम्द वग़ैरह में भी तब्अआज़्माई (काव्य-अभ्यास) की, मगर बाद में सिर्फ़ ग़ज़ल को ही अपने इज़्हार का ज़रीआ बनाया। ग़ज़ल मज्रूह की मर्ग़ूबतरीन सिन्फ़े-सुख़न(पसन्दीदा काव्य-विधा) थी, इसलिए उन्होंने अपने मज्मूआ-ए-कलाम का नाम 'ग़ज़ल' रखा। जिसके तरमीम-ओ-इज़ाफ़े के बाद तक़्रीबन नौ एडीशन शाए(प्रकाशित) हुए और फिर बाद में 'मश्अले-जाँ' के नाम से भी शाए हुआ, जिसका आधे से ज़ियादा हिस्सा ग़ज़ल पर इज़ाफ़े की हैसियत रखता है।

मज्रूह इब्तिदा से ही क्लासिकी आईना-ओ-आदाब के क़ायल रहे हैं। उनके कलाम पर क्लासिकी फ़ारसी रवायत के असरात बहुत गहरे थे। उनकी इब्तिदाई ग़ज़लें बड़ी पुरलुत्फ़ और पुराने तग़ज़्ज़ुल से भरपूर हैं—

इल्तिफ़ात समझूँ या बेरुख़ी कहूँ इसको
रह गयी ख़लिश बनकर उसकी कमनिगाही भी
इस नज़र के उठने में उस नज़र के झुकने में
नग़्मए-सहर भी है आहे-सुब्हगाही भी

कभी जादए-तलब से जो फिरा हूँ दिलशिकस्ता
तेरी आरज़ू ने हँसकर वहीं डाल ही हैं बाहें

हम तो पाए-जाना पर कर भी आये इक सज्दा
सोचती रही दुनिया कुफ़्र है कि ईमाँ है

बचा लिया मुझे तूफ़ाँ की मौज ने वरना
किनारेवाले सफ़ीना मेरा डुबो देते

इन अश्आर में मज्रूह ने तश्बीह(उपमा) से कम और इस्तिआरे(रूपक) से ज़ियादा काम लिया है। मज्रूह की ग़ज़लों में सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों के साथ-साथ क्लासिकी कलात्मक अनिवार्यताओं का अनुपालन है। मज्रूह की शायरी का इब्तिदाई दौर तरक़्क़ीपसन्द तह्रीक के उरूज का ज़माना था। मज्रूह इस तह्रीक से मुतास्सिर होकर इसमें शामिल हो गये। तरक़्क़ीपसन्द शोअरा का आम रुज्हान नज़्म की तरफ़ था, क्योंकि वो अदब की इफ़ादियत(उपादेयता) पर ज़ोर देते थे। नज़्म के ज़रीअे पैग़ाम बराहे-रास्त(सीधे तौर पर) पहुँचाया जा सकता है। ग़ज़ल का परम्परागत स्वरूप और विधागत पाबन्दियाँ एक ठहराव और ज़ब्त का तक़ाज़ा करती है, इसलिए ग़ज़ल की तरफ़ तवज्जो नहीं दी गयी, लेकिन मज्रूह ने ग़ज़ल को अपनी इज़्हार का ज़रीआ बनाते हुए ये साबित करने की कोशिश की कि ग़ज़ल में हर तरह के ख़यालात-ओ-मतालिब का इज़्हार किया जा सकता है। वो हमेशा ग़ज़ल के उत्थान के लिए कोशिश करते हुए तरक़्क़ीपसन्दों के ग़ज़ल-मुख़ालिफ़ रवैये के ख़िलाफ़ सीनासिपर रहे। बक़ौल मज्रूह सुल्तानपुरी- ''तरक़्क़ीपसन्दों का रवैया उस ग़ज़ल के ख़िलाफ़ रद्दे-अमल के तौर पर उभरा था जो ज़िन्दगी से अपना रिश्ता खो चुकी थी और जिसमें जदीद रवैयों को समोने की सलाहियत ख़त्म हो चुकी थी। इस सूरते-हाल में मैं तने-तन्हा तरक़्क़ीपसन्द ग़ज़ल के लिए सीनासिपर हुआ। मैं तन्हा था जो उस वक़्त ग़ज़ल की वकालत में डटा हुआ था। ऐसे में फ़ैज़ ने ग़ज़ल की तरफ़ तवज्जो की। फ़ैज़ के आने से मेरे नुक़्ता-ए-नज़र को ख़ास तक़्वियत हासिल हुई।''[1]

इस विषय में प्रो. गोपीचन्द नारंग लिखते हैं कि– ''मज्रूह का कमाल ये है कि न तो उन्होंने तरक़्क़ीपसन्दों का साथ छोड़ा और न ही ग़ज़ल से अपनी वफ़ादारी को तर्क किया। ये उनकी सलामती-तब्अ और ख़ुशमज़ाक़ी का खुला हुआ सबूत है कि उन्हें इस बात का एहसास था कि शेरीअत, तग़ज़्ज़ुल उर्दू-शायरी का जौहर है और इससे हाथ उठाना गोया शेरीअत से मुँह मोड़ना है।''[2] लिहाज़ा मज्रूह ने समाजी मसावात(सामाजिक समानता) और इश्तिराकियत(साम्यवाद) का पैग़ाम देते हुए समाजी कश्मकश और इन्क़लाब को अपनी ग़ज़लों का मौज़ूअ(विषय) बनाकर ग़ज़ल से नज़्म का काम लिया। मज्रूह के ये अश्आर इन्क़लाबी ज़ेह्नियत की की तरफ़ इशारा कर रहे हैं और आसान मेआर के अदब की मिसाल हैं। यहाँ ग़ज़ल और नज़्म का फ़र्क़ बाक़ी नहीं रहा है–

आ निकल के बाहर अब दोरुख़ी के ख़ाने से
काम चल नहीं सकता अब किसी बहाने से
अहले-दिल उगायेंगे खेत में महो-अंजुम
अब गुहर सुबुक होगा एक जौ के दाने से
मनचले बुनेंगे अब रंगो-बू के पैराहन
अब सँवर के निकलेगा हुस्न कारख़ाने से

मज्रूह सुल्तानपुरी ग़ज़ल के फ़न से बख़ूबी वाक़िफ़ थे, लेकिन इस तरह के अश्आर नज़्मगो शोअरा के सामने, अवामी शायरी बतौर नमूना पेश किये। इसके साथ-साथ वो बुलन्द मेआर की तरक़्क़ीपसन्द ग़ज़लें भी कहते रहे जिनमें ग़ज़ल का हुस्न मौजूद है–

दुश्मन की दोस्ती है अब अहले-वतन के साथ
है अब ख़िज़ाँ चमन में नये पैरहन के साथ
सर पर हवा-ए-ज़ुल्म चले सौ जतन के साथ
अपनी कुलाह कज़ है इसी बाँकपन के साथ
झोंके जो लग रहे हैं नसीमे-बहार के
जुम्बिश में है क़फ़स भी असीरे-चमन के साथ

देख ज़िन्दाँ से परे रंगे-चमन, जोशे-बहार
रक़्स करना है तो फिर पाँव की ज़ंजीर न देख

सुतूने-दार पे रखते चलो सरों के चिराग़
जहाँ तलक ये सितम की सियाह रात चले

मज्रूह ने उर्दू-ग़ज़ल को एक नये रुख़ से आश्ना किया। उन्होंने ग़ज़ल के मज़ामीन में तौसीअ (विस्तीर्णता) और आरास्तगी-ए-बयान की मदद से हर क़िस्म के मौज़ूआत को अपनी ग़ज़ल के उस्लूब में ढालने की कोशिश की। उनकी ये ग़ज़लें मौजूदा दौर के तक़ाज़ों का साथ देती हुई नज़र आती हैं, क्योंकि वो तरक़्क़ीपसन्द ग़ज़ल के लिए समसामयिक मुद्दों और संवेदनाओं को ज़रूरी समझते हैं। चुनांचे इस सन्दर्भ में लिखते हैं— ''तरक़्क़ीपसन्द तग़ज़्ज़ुल इसके सिवा कुछ नहीं कि एहसास को ग़ज़ल की रिवायत में समोकर इज़्हार किया जाये, कोई ऐसा मौज़ू, कोई ऐसा जज़्बा या एहसास नहीं है जो तरक़्क़ीपसन्द ग़ज़ल में न आया हो।''[3]

मज्रूह के यहाँ हज़्निया(निराशावादी) अन्दाज़ के बजाय रजाई(आशावादी) अन्दाज़ मौजज़न है। ताज़गी-ओ-तवानाई, अनानीयत, इंसानी अज़्मत और ख़ुदएतमादी उनकी ग़ज़लों की ख़ास विशेषता है। मज्रूह ने क्लासिकी रिवायत के साथ नये मौज़ूआत और नये लबो-लहजे का इज़ाफ़ा किया—

शम्अ भी उजाला भी, मैं ही अपनी महफ़िल का
मैं ही अपनी मंज़िल का राहबर भी राही भी

जिस तरफ़ भी चल पड़े हम आबला पायाने-शौक़
ख़ार से गुल और गुल से गुलसिताँ बनता गया
मैं अकेला ही चला था जानिबे-मंज़िल मगर
लोग साथ आते गये और कारवाँ बनता गया

रोक सकता हमें ज़िन्दाने-बला क्या 'मज्रूह'
हम तो आवाज़ हैं दीवार से छन जाते हैं

मज्रूह की ग़ज़ल का लबो-लहजा क्लासिकल है, वो ग़ज़ल की तमाम नज़ाकतों तो ख़याल रखते ही हैं। उपमा, रूपक और प्रतीकों-बिम्बों के साथ अपने मिज़ाज में रची-बसी जमालियात और सदाक़ते-बयान से ग़ज़ल की आराइश करते हैं। मज्रूह की ग़ज़ल की फ़न्नी ख़ुसूसीयत बयान करते हुए डॉ. मुहम्मद हसन लिखते हैं— ''मज्रूह ग़ज़ल में क्लासिकी आईनो-आदाब के क़ायल हैं। नग़्मगी और मुरक़्क़ासाज़ी उनका फ़न है और इसके लिए साज़ो-बर्ग वो रिवायत के सभी नक़्शो-निगार से हासिल करते हैं। इसीलिए सजावट उनकी ग़ज़लों में महज़ तराकीब या तश्बीहसाज़ी से

इबारत नहीं, बल्कि सजीलेपन और अलबेलेपन का नाम है।''[4] कहा जाता है कि मज्रूह के कुछ अश्आर पर फ़ैज़ की शैली का गुमान होता है, क्योंकि तरक़्क़ीपसन्द ग़ज़ल को फ़ैज़ के साथ इस क़दर लाज़िमो-मलज़ूम क़रार दिया गया है कि मज्रूह सुल्तानपुरी पसे-पुश्त जाते दिखायी देते हैं। मज्रूह और फ़ैज़ दोनों तरक़्क़ीपसन्द तह्रीक के अहम शायर हैं। दोनों की साहित्यिक कोटि एक है और शब्दावली और प्रतीक-योजना भी काफ़ी हद तक एकसमान है। दोनों के यहाँ राजनीतिक सन्दर्भ नयी बुलन्दियों के साथ मौजूद हैं, लेकिन दोनों के लहजों में स्पष्ट फ़र्क़ है। बक़ौल डॉ.मुहम्मद हसन– ''मज्रूह और फ़ैज़ दोनों के लहजे और दोनों की रम्ज़ीयत की नौईयत जुदागाना है। एक तख़्सीस से की तामीम तरफ़ जाता है और दूसरा तामीम से तख़्सीस की तरफ़। एक के लहजे में शिकवा है तो दूसरे के यहाँ नरमी और दिलबस्तगी। लिहाज़ा इन दोनों में तक़्दीमो-ताख़ीर का सवाल ही नहीं पैदा होता है। दोनों के लहजे और दायरा-ए-कमाल जुदागाना हैं। दोनों दो अलग तर्ज़े-फ़ुग़ाँ के मुवज्जिद हैं और शायद ख़ातिम भी।''[5]

फ़ैज़ और मज्रूह के लहजों का फ़र्क़ दोनों की इन्फ़िरादीयत(विशिष्टता) क़ायम करता है। मज्रूह की ग़ज़ल रिवायत के ख़मीर में ज़ियादा गुँधी हुई है और उस पर मग़्रिबी(पाश्चात्य) शायरी के असरात(प्रभाव) न के बराबर हैं, जबकि फ़ैज़ के यहाँ क्लासिकी रिवायत के साथ-साथ मग़्रिबी शायरी के असरात भी साफ़ नज़र आते हैं। मज्रूह सुल्तानपुरी को हमेशा ये शिकायत रही कि उर्दू के नक़्क़ादों ने उनसे बेएतनाई बरती है, और उन्हें वो मक़ाम नहीं दिया गया जिसके वो हक़दार थे। चन्द अश्आर मुलाहिज़ा हों–

ज़बाँ हमारी न समझा यहाँ कोई 'मज्रूह'
हम अजनबी की तरह अपने ही वतन में रहे

तुझे न माने कोई तुझको इससे क्या 'मज्रूह'
चल अपनी राह भटकने दे नुक्ताचीनों को

'मज्रूह' सुने कौन तेरी तल्ख़नवाई
गुफ़्तारे-अज़ीज़ाँ शकरआमेज़ बहुत है

तरक़्क़ीपसन्द ग़ज़ल के उरूज का दौर मज्रूह की ग़ज़लगोई के उठान का ज़माना है। इसी दौर में उन्होंने ग़ज़ल में नये तज्रबे किये और उसको तरक़्क़ीपसन्द फ़िक्रो-नज़र का आईनादार बनाया। 1960 ई. की दहाई तक वो तख़्लीक़ की जिन बुलन्दियों पर पहुँचे थे बाद में उत्तरोत्तर सोपानों को पार नहीं किया। बाद में ज़माने में मज्रूह के सरमाया-ए-ग़ज़ल में बहुत कम इज़ाफ़ा हुआ। उनकी शोह्रत का प्रतिनिधि उनका नौजवानी का कलाम ही है । मज्रूह का अदबी सरमाया बहुत मुख़्तसर ही सही, लेकिन उनकी ग़ज़लों का चिन्तन-मनन पाठकों के दिलों को प्रभावित-आनन्दित कर देता है। मज्रूह के कुछ मुन्फ़रिद अश्आर मुलाहिज़ा हों–

अलग बैठे हैं फिर भी आँख साक़ी की पड़ी हम पर
अगर है तिश्नगी कामिल तो पैमाने भी आयेंगे

शबे-इन्तिज़ार की कश्मकश में न पूछ कैसे सहर हुई
कभी इक चराग़ बुझा दिया कभी इक चराग़ जला दिया

जफ़ा के ज़िक्र पे तुम क्यों सँभल के बैठ गये
तुम्हारी बात नहीं बात है ज़माने की

मुझे सहल हो गयीं मंज़िलें वो हवा के रुख़ भी बदल गये
तिरा हाथ, हाथ में आ गया कि चराग़ राह में जल गये

थामें उस बुत की कलाई और कहें इसको जुनूँ
चूम लें मुँह और अन्दाज़े-रिन्दाना कहें

हम हैं मता-ए-कूचा-ओ-बाज़ार की तरह
उठती है हर निगाह ख़रीदार की तरह

हम ही काबा हम ही बुतख़ाना हमीं हैं कायनात
हो सके तो ख़ुद को भी इक बार सज्दा कीजिए

समग्र रूप से कहा जा सकता है कि मज्रूह विषय और उसकी अभिव्यक्ति के सन्तुलन पर यक़ीन रखते हैं। उन्होंने अहदे-जदीद की इमेजरी और आरास्तगी-ए-बयान के क्लासिकी रचनाओं से ग़ज़ल में एक नया स्वरूप तैयार करने की कोशिश की। इनके यहाँ समकालीन संवेदनाएँ, समाजी दर्द और पीड़ा के साथ ताज़गी-ओ-तवानाई, ख़ुदएतमादी, इंसानी अज़्मत, अनानीयत, एक ख़ास क़िस्म का तेवर, बाँकपन और हल्का-सा तंज़ मौजूद है, जो इन्हें अपने अहद के दूसरे ग़ज़लगो शोअरा से मुम्ताज बनाता है। इन्होंने तरक़्क़ीपसन्द रुज्हानात और मार्क्सी नज़रियात को बड़ी फ़नकारी से तग़ज़्ज़ुल में जज़्ब किया। रिवायत का ख़ास एहतराम और रिवायत की तौसीअ इनके कलाम का ख़ास वस्फ़ है। मज्रूह के मुताल्लिक़ अख़्तर सईद ख़ाँ की दर्ज ये राय हर्फ़े-आख़िर का दर्जा रखती है– ''मज्रूह साहब तरक़्क़ीपसन्द ग़ज़ल के इमाम थे और तक़्रीबन् आधी सदी वो इस मक़ाम पर फ़ाइज़ थे। उन्होंने तरक़्क़ीपसन्द अफ़्कार से ग़ज़ल को उस वक़्त आरास्ता किया जब ख़ुद तरक़्क़ीपसन्दों की नज़र में ग़ज़ल दरख़ुरे-एतिना (ध्यान देने योग्य) नहीं रही थी। तरक़्क़ीपसन्द ग़ज़ल मज्रूह साहब से मंसूब है और उनकी ये इन्फ़िरादीयत उनकी बक़ा की जामिन है।''[6]

सन्दर्भ :

1. तरक़्क़ीपसन्द अदब : पचास साला सफ़र– प्रो. क़मर रईस, सैयद आशूर क़ाज़मी, सफ़हा- 378
2. हमारी ज़बान : मज्रूह सुल्तानपुरी नम्बर, सफ़हा- 11
3. तरक़्क़ीपसन्द अदब : पचास साला सफ़र– प्रो. क़मर रईस, सैयद आशूर काज़मी, सफ़हा- 490
4. मुआसिर अदब के पेशरौ– डॉ. मुहम्मद हसन, सफ़हा- 87
5. वही, सफ़हा- 92
6. हमारी ज़बान : मज्रूह सुल्तानपुरी नम्बर, सफ़हा- 12

अस्लम इलाहाबादी
13/सी, काटजू रोड
इलाहाबाद (उ. प्र.)
मोबाइल : 09919306515

अस्लम साहब के सिल्सिलेवार चल रहे मज़्मून का ये तीसरा भाग है। इस बीच इन्होंने उर्दू की निसाई शायरी पर बहुत-कुछ लिखा है, जिसे उर्दू-तन्क़ीद का बेशबहा सरमाया समझा जा सकता है। शायरात की ग़ज़लों और नज़्मों पर इतने विस्तार से लिखनेवाले अस्लम साहब गिने-चुने लोगों में से एक हैं। इनके लेखों का क्रम आगे भी जारी रहेगा।

शायर और शायरात की शायरी में जो मूलभूत तात्त्विक अन्तर होता है, वो बहुत कम शायरात के यहाँ मिलता है। यद्यपि कि आधुनिक उर्दू-शायरी में शायरात की ग़ज़लों के अनासिर का कोई बँधा-टका उसूल नहीं बन पाया है, फिर भी परम्परागत ग़ज़लगोई के लबो-लहजे से अलगाव एक प्रमुख तत्त्व तो है ही। प्रतीकों, विषयों और भावनाओं का अलगाव ही शायरात की ग़ज़लों का अहाता निर्धारित कर सकता है, अन्यथा अपनी विशिष्ट आवाज़ और शैली के अभाव में शायरात की शायरी भी भीड़ में गुम हो सकती है।

अस्लम इलाहाबादी

उर्दू-शायरी की अहम शायरात-३

ज़ोह्रा निगाह

ज़ोह्रा निगाह ने अपनी शायरी की इब्तिदा ग़ज़ल से की। सर्द–ओ–गर्म मौसम ने इनकी फ़िक्र में चमक पैदा की। वक़्त के साथ–साथ जज़्बात–ओ–एहसासात में रवानी आती गयी। ज़ोह्रा के यहाँ इब्तिदा में क्लासिकल रंग देखने को मिलता है। ज़ोह्रा की शायरी ज़िन्दगी के दौड़–भाग के बीच परेशान और थके ज़ेह्नों को सुकून बख़्शती है। समाज में फैली बुराइयों को बेनक़ाब करना ही अदबी दिनायतदारी है। इस फ़र्ज़ को इन्होने बख़ूबी अदा किया। ज़ोह्रा निगाह ख़वास और अवाम दोनों तब्क़े में मक़्बूल हुईं। पाकिस्तान की वो पहली शायरा हैं जो मुशायरों के ज़रीअे अहले–अदब से रू–ब–रू हुईं। ज़ोह्रा ने ग़ज़ल को अपनी मुतरन्नुम आवाज़ से मुतरन्नुम बना दिया। चूँकि मुशायरों का अवाम से ज़ियादा मज़्बूत रिश्ता है इसलिए ख़वास से ज़ियादा वो अवाम की पसन्दीदा शायरा कहलाने लगीं, लेकिन बहुत जल्द इन्होंने मुशायरों से ख़ुद को अलग किया और अदबी मह्फ़िलों से रिश्ता क़ायम कर लिया।

पाकिस्तान की सियासी सूरते–हाल हिन्दुस्तान से मुख़्तलिफ़ है। पाकिस्तान के हुक्मरानों की डिक्टेटरशिप ने औरतों की आज़ादी को क़ुबूल नहीं किया। इस घुटन और क़ैदो–बन्द के माहौल में एहतिजाजी फ़ज़ा(आक्रोशयुक्त वातावरण) का बनना यक़ीनी था और यही वजह है कि पाकिस्तान में अफ़्साना, नावेल, ड्रामा, शायरी हर मैदान में ख़वातीन का अदब परवान चढ़ता रहा। आज एक तवील फ़ेहरिस्त ख़वातीन की हमारे सामने है। हालाँकि ज़ोह्रा निगाह के यहाँ किश्वर नाहीद, फ़हमीदा रियाज़ जैसी बग़ावत नहीं है। ज़ोह्रा की ग़ज़लों और नज़्मों में मर्दाना समाज के शिकवा–शिकायत के बावजूद सब्रो–शुक्र के साथ समझौते की सूरत नज़र आती है, जो ज़ोहरा निगाह को अदा जाफ़री की हमख़याल बना देती है।

ज़ोह्रा की नज़्म 'हमारे तुम्हारे रास्ते' में इसकी ख़ूबसूरत मिसाल मौजूद है। ज़िन्दगी में बेजा तक़्रार से हमेशा काम ख़राब होते आये हैं। ज़ोह्रा निगाह की इस नज़्म में औरत की दूरअन्देशी का दख़्ल ज़ियादा है। ज़ोह्रा निगाह जानती हैं कि मर्द और औरत के रिश्तों की बुनियाद सिर्फ़ प्यार और मुहब्बत पर ही नहीं, ऐतबार और एतदाल पर क़ायम रहती है। नज़्म 'मता–ए–अल्फ़ाज़' में इल्तिज़ा और आजिज़ी की सदा–ए–बाज़गश्त साफ़ तौर पर सुनायी देती हैं—

ये जो तुम मुझसे गुरेज़ाँ हो मेरी बात सुनो
इस ख़मोशी के अँधेरे से निकल आयें चलो
किसी सुलगे हुए लहजे से चराग़ाँ कर लें
चुने लें फूलों की तरह हम भी मता–ए–अल्फ़ाज़
अपने उजड़े हुये दामन को गुलिस्ताँ कर लें

इनकी नज़्म, 'एहतेमामे-शबे-उम्मीद', जहाँ मुहब्बत के आँगन में इन्तिज़ार की कलियाँ आनेवाले के ख़ैरमक़्दम में महकती हुई मह्सूस होती हैं, और अपने मह्बूब के इस्तक़्बाल में पलकें बिछाती हैं। यहाँ एतबार और भरोसे के चराग़ों की लवें तेज़-से-तेज़ होती जाती हैं। चन्द इक़्तिबास नक़्ल हैं–

फिर से रौशन हुए राहों में भरोसों के चराग़
फूल की तरह बिखेरा गया उम्मीदों को
मख़मलीं फ़र्श बिछाने लगीं पलकें हर सू
ताकि जब आये करमगार तो तक्लीफ़ न हो

एहतमामे-शबे-उम्मीद बहम होने लगा
दिल से अन्दाज़ा-ए-ग़म और भी कम होने लगा

ज़ोहरा निगाह की शायरी में घर-आँगन की ख़ुश्बू का एहसास होता है। हर औरत का यही सपना होता है कि उसका अपना घर हो, जहाँ वो अपनी तमन्नाओं के दिये जलाये। जिसकी रोशनी में उसका सारा वजूद सराबोर रहे। औरत हर शाम अपने शौहर के इन्तिज़ार में घर की दहलीज़ पर उसके क़दमों की आहट की मुन्तज़िर रहती है। नज़्म 'आँगन' में ज़ोहरा निगाह ने घर की तस्वीर कुछ इस तरह पेश की है कि दरो-दीवार से क़ुरबत का एहसास होता है, जहाँ वो अपने शौहर के साथ छप्पर के नीचे ख़ुद को मह्फ़ूज़ समझती है, जिसके आगे कस्रे-शाही(राजमहल) की कोई अहमियत नहीं है, अगर वो अपना नहीं है। ज़ोहरा की शायरी में घर की ज़रूरत और उसकी अहमियत को उजागर किया है कि एक औरत को सबकुछ उसके अपने घर में ही मिल सकता है, जहाँ वो मह्फ़ूज़ रह सकती है। घर से हटकर औरत का कोई वजूद नहीं। नज़्म 'लोरी' में भी ये फ़ज़ा बरक़रार है।

ज़ोहरा ने जहाँ पाबन्द नज़्में कही हैं वहीं आज़ाद नज़्में भी कही हैं। ज़ोहरा ने अपनी बहुत-सी नज़्मों के ताने-बाने इन्तिज़ार के रंग-बिरंगे धागों से बुने हैं, जहाँ दावते-जल्वा भी है, ख़द्शात भी हैं, वस्वसे भी और मश्विरा भी। मिसाल के तौर नज़्म 'क़सीद तह बहार' के चन्द इक़्तिबास नक़्ल हैं—

तुम अपनी आँखों से मेरी आँखों के जाम भर दो
अगर प्यालों के कुछ किनारे शिकस्त हों भी तो हर्जा क्या है
मयए-वफ़ा की नमी तो होगी
तुम अपने हाथों से मेरे बालों की लट सँवारो
सियाहिए शब की दिलफ़रेबी नहीं मिलेगी तो ख़ौफ़ क्या है
कहीं-कहीं चाँदनी तो होगी

नज़्म 'मश्विरा'' से मेरी राय की तौशीक़ हो जायेगी कि औरत शको-शुब्हात का मुजस्समा है। उसे हर वक़्त ये ख़द्शा लाहक़ रहता है कि कहीं कोई उसके प्यार पर डाका न डाल दे। ज़ोह्रा की बहुत-सी ऐसी नज़्में रूमानपरवर फ़ज़ा में साँस लेती हैं, जिन्हें गीतों की कैटेगरी में रखा जा सकता है। इसलिए कि उनकी टेक्नीक भी वही है जिनसे गीत जन्म लेते हैं, जहाँ नज़्म का मत्ला गीत के मुखड़े की सूरत नज़र आता है। ज़ोह्रा के यहाँ छोटे-बड़े मिस्रे गीत का एहसास दिलाते हैं। ज़ोह्रा की बहुत-सी नज़्में गीत का आहंग पेश करती है, जहाँ बह्रों का इस्तेमाल और इन्तख़ाब भी वही है जो गीतों का होता है। मिसाल के तौर पर नज़्म 'बनबास' के चन्द बन्द नक़्ल हैं–

सिया को देखे सारा गाँव
आग पे कैसे धरेगी पाँव
बच जाय तो देवी माँ है जल जाये तो पापन
जिसका रूप जगत की ठण्डक अग्नी उसका दर्पन

एक और नज़्म 'मदमाती पवन लहराये' ये नज़्म भी गीत की फ़ज़ा तैयार करती है–

मदमाती पवन लहराये
जग भर से कहने जाये
मोरे आँगन कोई आये
कोई दूर-दूर से आये
मैं छिपती फिरूँ सितारों से, मुझे आये लाज बहारों से
मैं जो भी न कहने पाऊँ सखी, मोरा अंग-अंग कह जाये
मदमाती पवन लहराये........

ज़ोह्रा निगाह की शायरी में जहाँ एक तरफ़ चूड़ियों के खनकने और आँचल के सरकने का एहसास होता है, वहीं दूसरी तरफ़ नस्ली भेदभाव, सूबापरस्ती, रिश्वतख़ोरी, गन्दी सियासत की बाज़गश्त (अनुगूँज) भी सुनायी देती है। ज़ोह्रा की बहुत-सी नज़्में कहानी और कहावत के पैराये में हुकूमते-वक़्त को निशाना बनाती हैं। मश्हूर नज़्म 'एक पुरानी कहानी' इसी प्रकार की है। ज़ोह्रा निगाह ने मुल्क में होनेवाले फ़सादात के सिल्सिले में भी बहुत-सी कारआमद नज़्में कही हैं। वो मुल्क की सियासत पर गहरी नज़र रखती हैं। फ़िरक़ापरस्ती, सूबापरस्ती से पैदा होनेवाले वाक़िआतो-हादसात से मुतास्सिर(प्रभावित) होकर ज़ोह्रा ने अपने क़लम के साथ हमेशा इंसाफ़ किया है। ज़ोह्रा की नज़्म 'मुस्लिम मुस्लिम फ़सादात' अहदे-हाज़िर का मर्सिया कही जायेगी। इस नज़्म को पढ़कर ऐसा महसूस होता है कि शायरा चश्मदीद गवाहों का सफ़ में खड़ी है। घर-आँगन की तबाही, मालो-असबाब की लूट, आगज़नी, ग़ारतगरी की बेमिसाल मंज़रकशी की गयी है आँखें ख़ुद-ब-ख़ुद छलक उठती हैं। इस नज़्म में मफ़ादपरस्तों(स्वार्थियों) की अन्धी सियासत का ख़ूबसूरत पैराये में बयान मिलता है। ज़ोह्रा की शायरी की यही तो ख़ूबी है कि छोटे-छोटे वाक़िआत की ऐसी मंज़रकशी करती हैं कि सारा मंज़र निगाहों में घूमने लगता है।

जैसा कि इस बात की पहले ही वज़ाहत की जा चुकी है कि ज़ोह्रा निगाह ने ग़ज़ल से अपनी शायरी की इब्तिदा की है। उनका पहला मज्मूआ 'शाम का पहला तारा' है, जिसमें नज़्में भी हैं और ग़ज़ल भी। इनकी इब्तिदाई दौर की ग़ज़लों में असातिज़ा(उस्तादों) के कलाम का धोखा होता है। मिस्रे ढले-ढलाये हैं, फ़िक्री सत्ह भी बुलन्द है, अल्फ़ाज़ में बला की रवानी और बरजस्तगी पायी जाती है। अल्फ़ाज़ सादा और सलीस हैं। ज़ोह्रा ने बेजा और भारी-भरकम अल्फ़ाज़ से गुरेज़ किया है। कुछ मौज़ूअ जहाँ पुराने हैं वहीं बहुत-से नये मज़्मून भी नुद्रत और ताज़गी का एहसास दिलाते हैं। सुबूत के तौर पर चन्द अश्आर पेश हैं–

फ़ना के ज़मज़मे रंजो-महन के अफ़साने
यही मिले हैं नयी ज़िन्दगी को नज़राने

कहाँ के इश्क़ो-मुहब्बत, कहाँ के हिज्रो-विसाल
अभी तो लोग तरसते हैं ज़िन्दगी के लिए

हिकायते-ग़मे-दुनिया तवील थी, कह दी
हिकायते-ग़मे-दिल मुख़्तसर है क्या कहिये

रुक जा हुजूमे-गुल कि अभी हौसला नहीं
दिल से ख़याले-तंगिए-दामाँ गया नहीं

ऊपर के अश्आर असातिज़ा के अनुकरण-अनुसरण का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, जो उस दौर का चलन था। हिज्रो-विसाल, हिकायते-ग़म, तंगिए-दामाँ, हुजूमे-गुल; ये तमामी टुकड़े क्लासिकल शायरी की पहचान हैं। रंजो-महन, फ़ना-ओ-बक़ा के पैराये में शोअरा अपने दिल के फफोले फोड़ते आये हैं। बक़ौल फ़ैज़ अहमद फ़ैज़— ''इस दौर की शायरी में आपबीती है, ख़ूने-जिगर की नमू और जगबीती परछाइयों का वजूद, रवायत और ईजाद के तलाज़मे कुछ इस सन्नाई से यकजा हुए हैं कि अगर ज़ोह्रा इसी पर इक्तिफ़ा कर लेतीं, जब भी जरीदए-सुख़न पर उनका नक़्श यक़ीनन् दवाम हासिल कर लेता।......लेकिन अब तो उन्होंने सितारों भरे शह्र को भी पीछे छोड़ दिया है। इस रंग को तजकर एक बिल्कुल नया उस्लूब अख़्तियार किया और उसकी ताक़त से अपने मौज़ूए-सुख़न में कुछ तर्मीम कर ली।''

ज़ोह्रा की ग़ज़लों में बदली हुई रुत में नये-नये फूल अपनी मुन्फ़रिद और दिलआवेज़ ख़ुश्बू का एहसास दिलाते हैं। मआशरे में फैली बेहिसी, बेमुरव्वती, बदनज़्मी के ख़िलाफ़ ज़ोह्रा की शायरी एहतिजाजी ज़िन्दगी के बदलते-टूटते रिश्तों की आहट सुनायी देती है। जगह-जगह पर घर-आँगन की परछाइयाँ उभरती हैं। मिसाल के तौर पर ये शेर देखें—

अब इस घर की आबादी है मेह्मानों पर
कोई आ जाये तो वक़्त गुज़र जाता है

ज़ोह्रा के अश्आर में शिकवा भी है शिकायत भी है। ये शिकायत मह्बूब से भी हो सकती है और शौहर से भी। ज़ोह्रा ने क़दम-क़दम पर समाज में रूनमा होनेवाले वाक़िआत की तरफ़ इशारा किया है, जहाँ औरत अपनी तन्हाई मेह्मानों में बाँट देती है। मौजूदा अहद मस्रूफ़ियत से ताबीर किया जायेगा। फ़ुर्सत के रात-दिन अब कहाँ कि बैठे रहें तसव्वुरे-जानाँ किये हुए। ज़ोह्रा की शायरी में उनका ज़ाती और ऐनी, दोनों तरह का मुशाहिदा काम करता है, तभी तो मौसूफ़ा फ़रमाती हैं—

हर बार हुआ है मेरे नुक़्सान का सौदा
कहने को हमेशा ही अनमोल रही हूँ

ज़ोह्रा की ग़ज़लिया शायरी को तश्बिया और इस्तिआरे से कोई सरोकार नहीं। सादा-सादा मिस्रे अपने सँभले हुए अन्दाज़ में दिल की गहराइयों में उतर जाते हैं। रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में पेश आने वाले वाक़िआत को ज़ोह्रा अपनी हुनरमन्दी और लियाक़त से अल्फ़ाज़ का वो जामा पहनाती हैं कि क़ारी की नज़र ख़ुद-ब-ख़ुद उनकी तरफ़ उठ जाती है। ज़ोह्रा के यहाँ निसाई तह्रीक(स्त्री-आन्दोलन) का सँभला हुआ लहजा है। वो अक़्ल से ज़ियादा दिल पर यक़ीन रखती हैं, जहाँ अक़्ल से ज़ियादा जज़्बात का दख़्ल अमल है। उन्हें मालूम है कि ग़म ही कायनात में अनमोल है जो इंसानी ज़िन्दगी को गतिशील रखता है। चन्द अश्आर से मेरी राय की वज़ाहत हो जायेगी, नक़्ल है—

उस जगह अक़्ल ने धोके खाये
जिस जगह दिल तेरे फ़रमान गये

हम तिहीदस्त हैं बस एक दौलते-दिल है
ये न बिक जाये कहीं माले-ग़रीबाँ की तरह

वक्त को सँभलने दे रंग को बदलने दे
रौशनी उभारेगी ज़ुल्मतों के ये साये

इक रौशनी उम्मीद की इक अज़्मे-जाविदाँ
ज़ुल्मते-ज़िन्दगी में है रक़्साँ रवाँ-दवाँ

ज़ोह्रा के यहाँ टूटती-बिखरी क़द्रों का दुख है और ये दुख इसलिए ज़ियादा है कि ज़माने के बदलते हुए मौसम में मेयारी ज़ीस्त के आदाबो-अत्वार बदल चुके हैं। नये ज़माने में दोस्ती, वफ़ा जैसे अल्फ़ाज़ अपनी क़द्र खोकर बेअसर और बेमानी हो गये—

अब दोस्ती वो फ़न है जो सीखे वही निभाये
और है वफ़ा वो खेल जिसे आये वो दिखाये

इस मत्ले में ज़ोह्रा निगाह ने मौजूदा अहद की भरपूर अक्कासी कर दी कि दोस्ती का न अब वो मेयार ही रह गया और न दोस्ती करने और निभानेवाली क़द्रें ही बाक़ी रहीं। प्यार, ख़ुलूस, वफ़ा, गुज़रे ज़माने की बातें हैं, जो सिर्फ़ किताबों तक महदूद(सीमित) होकर रह गयीं। ज़ोह्रा निगाह के यहाँ ग़ज़लों में समकालीन समस्याओं ओर दुखों का बयान भरपूर है। यही वज्ह है कि उनकी शायरी अहले-इल्म की महफ़िलों में भी अपना अलग वक़ार रखती है।

शफ़ीक़ फ़ातिमा 'शेअरा'

शफ़ीक़ फ़ातिमा 'शेअरा' उर्दू की ऐसी शायरा हैं जिनको उर्दू के नक़्क़ादों ने बिल्ख़ुसूस जदीद नक़्क़ादों(आलोचकों) ने भारी पत्थर समझा और सिर्फ़ चूमकर छोड़ दिया। अफ़सोस कि उनकी शायरी पर अब तक कोई क़ाबिले-क़द्र तहरीर नहीं लिखी गयी। नक़्क़ादों के इस उपेक्षित रवैये पर जितना मातम किया जाय कम है, कि हमारे अहद की एक ऐसी शायरा जो उज़्लतनशीनी (एकान्तवास) की ज़िन्दगी गुज़ार रही है, लेकिन अपनी शायरी उर्दू के मख़्सूस रिसालों के माध्यम से उर्दूवालों तक पहुँचा रही हैं, क्योंकि नक़्क़ादों की तवज्जो की मरकज़ नहीं बनी। क्या इसे ये न समझा जाय कि शफ़ीक़ फ़ातिमा अपनी शरीफ़-उल-नफ़्सी और विशेष स्वभाव के कारण ऐसे हथकण्डे इस्तेमाल नहीं करतीं जो यहाँ के बेशतर शोअरा करते हैं, यानी (Public Relation)। शफ़ीक़ फ़ातिमा शेअरा अहदे-हाज़िर की मुमताज़ो-मुन्फ़रिद लहजे की उर्दू की पहली ऐसी शायरा हैं, जिनके यहाँ इस्लामियत का असर सबसे ज़ियादा है। इनकी शायरी का अहाता करने के लिये इस्लामी मआशरती पसमंज़र(सामाजिक पृष्ठभूमि) में जाना ज़रूरी है। इनकी शायरी में उपस्थित इस्लामी तल्मीहात(क़िस्से-कहानियों का सन्दर्भ) आम पाठकों के लिए पेचीदेगियाँ ज़रूर पैदा करती हैं, लेकिन इनसे इनकी शायराना ख़ूबियाँ उजागर हुई हैं। किसी ख़वातीन शायरा के यहाँ पहली बार शायरी के हवाले से सूफ़ियाना ख़यालात का इज़्हार देखने को मिलता है। मौज़ूअ और उस्लूब के ऐतबार से वो अपनी हमअसरों(समकालीनों) में अलग नज़र आती हैं। इनके यहाँ आसान और मुश्किल दोनों का मिश्रण है, वो जैसे-जैसे उत्थान एवं विकास मंज़िलों की तरफ़ गयीं, उनकी शायरी और मुन्फ़रिद(विशिष्ट) और मोतबर होती गयी। इन्होंने तज्रबे और मुशाहिदे के साथ-साथ अपनी

ज़ात को भी शायरी का हिस्सा बना दिया। इनकी बहुत-सी नज़्में इनकी सूफ़ियाना तबीअत की तर्जुमानी करती हैं। 'गिला-ए-सफ़ूरा', 'हिकायते-ज़ू-उल-नून', 'मज्ज़ूफ़', 'सरे-हक़', 'ख़ुल्दाबाद की सरज़मीं'; ये तमाम नज़्में तसव्वुफ़ में डूबी हुई नज़र आती हैं। इस्लामी इस्तिलाहें(परिभाषाएँ), इस्लामी इतिहास के हवाले, इस्लामी तल्मीहात को जब तक न समझ लिया जाय 'शेअरा' की शायरी को समझना मुम्किन नहीं। 'गिला-ए-सफ़ूरा' इनकी मुख़्तसर नज़्म है, लेकिन अर्थ-उत्पत्ति के दृष्टिकोण से उनकी ज़ेह्नी बनावट को समझने में मदद करती है। इस्लामी तारीख़ के हवाले से 'सफ़ूरा' हज़रत शोएब(अलै.) की बेटी का नाम है, जो हज़रत मूसा(अलै.) की बीवी थीं। हज़रत मूसा(अलै.) उन्हीं की भेड़ें चराया करते थे। सफ़ूरा इस्लामी तारीख़ में पहली ऐसी औरत गुज़रीं जिन्होंने अपने शौहर हज़रत मूसा(अलै.)) की बेतवज्जही और बेएतनाई(विमुखता) का शिकवा ख़ुदा से किया, जिसका ज़िक्र ज़बूर[1], तूरेत[2] और क़ुरआन में मिलता है। नज़्म 'गिला-ए-सफ़ूरा' एक अलामती(symbolic) नज़्म है, जो निसाई एहसासातो-जज़्बात की गिरह खोलती है और निसाई तह्रीक को ताक़त बख़्शती है कि शबाँज़ादे सहराई कुँए के गिर्द पहुँचने की इजाज़त शबाँज़ादी से माँगते हैं। जहाँ मज़्लूमो-मज्बूर औरत को हाकिम की सूरत में पेश किया गया है।

नज़्म 'जब भी सहर आयी' में भी फ़ित्रत के पसमंज़र में रहकर अपना मक़्सद बयान किया गया है, कि सुब्ह होने पर रात की सियाही धुल जाती है। सूरज की किरणें ज़र्रे-ज़र्रे को रौशन कर देती हैं, लेकिन नस्ले-आदम आज भी अँधेरे में क़ैद है। क्या इसकी क़िस्मत में कोई सहर नहीं? 'शेअरा' की ये नज़्म इंसानों के दुख-दर्द और सम्मान को ध्यान में रखकर लिखी गयी है। फ़ातिमा के यहाँ मंज़रनिगारी ख़ास मक़्सद के लिए की गयी है, जो रूमानी दौर के शोअरा का तुर्रा इम्तियाज़ रही है। शेरा की नज़्में रमूज़े-फ़ितरत के साये में सफ़र करती हैं और धीरे-धीरे सारे मंज़र रूनुमा हो जाते हैं। उनके यहाँ बहुत-से फ़लसफ़ियाना मसाएल फ़ित्रत की रौशनी में हल किये जाते हैं। मक़्सद को फ़ित्रत पर तरजीह दी जाती है। शेरा का ये अन्दाज़े-बयाँ उन्हें इक़्बाल के क़रीब कर देता है। नज़्म 'असीर' भी 'शेअरा' की ख़ूबसूरत नज़्मों में शुमार की जाती है। इस नज़्म में भी स्त्रियोचित एहसासातो-जज़्बात की तर्जुमानी मिलती है। इंसान क्या चरिन्द, परिन्द, शजर-हजर; सभी फ़ित्रत के मातहत हैं, जो क़ुद्रत के बनाये हुए उसूल के मुताबिक़ अलग-अलग कारगुज़ारियों में मस्रूफ़ हैं। सुब्ह का नमूदार होना, शाम का रुख़्सत होना, दरियाओं का बहना, परिन्दों का चहचहाना, ये सारे मनाज़िर फ़ित्रत के पाबन्द हैं और ऐसे ही तिलिस्माती मनाज़िर में किसी का गुम हो जाना कोई ताज्जुब की बात नहीं। शफ़ीक़ फ़ातिमा 'शेरा' ने इंसानी तवारीख़ में पेश आनेवाले छोटे-से-छोटे वाक़िआतो-हादसात के हवाले से अपनी नज़्मों में रंगसाज़ी की है। वो हालाते-हाज़िरा पर भी बेलाग़ तब्सिरे करने में झिझक मह्सूस नहीं करतीं। चन्द मिस्रे मुलाहिज़ा हों—

कारवाँ हैं आवारा अनगिनत जहानों के
कोई हद भी रखती है ये ख़ला की पहनाई
वक़्त का सफ़ीना भी धीरे-धीरे बहता है
रात के समन्दर में है अजब सुकूँज़ाई
ताल में ख़लाओं के ये कँवल-सी दुनियाएँ
मज़्हका उड़ाती हैं जो हयाते-फ़ानी का
कौन है मकीं उनका क्या हैं केशो-दीं उनके
दायरा है किस हद तक उनकी हुक्मरानी का

---

1. हज़रत दाऊद (अलै.) पर अवतरित किताब।
2. हज़रत मूसा (अलै.) पर अवतरित किताब। इसे 'तूरात' भी कहते हैं।

1970 ई. के क़रीब लिखी गयी इनकी नज़्म 'मुसाफ़िर परिन्दे' काफ़ी मक़बूल हुई, जिसमें उन्होंने बंग्लादेश के वजूद में आने के बाद बिहारी-बंगाली मुसलमानों की सूरते-हाल पर रौशनी डाली है। हालात से मज्बूर होकर बंग्लादेशी मुसलमानों की एक बड़ी तादाद पश्चिमी पाकिस्तान कूच कर गयी और कुछ हिन्दोस्तान में बस गयी। आज भी उनका वजूद शको-शुब्हा के घेरे में है, क्योंकि उनका कोई ठिकाना नहीं, उनकी हालत परिन्दों की-सी होकर रह गयी—

उफ़ुक़-ता-उफ़ुक़ नीलगूँ आसमाँ
कोई शाख़े-गुल है न कोई मुँडेर
घड़ी-दो-घड़ी पंखुड़ी जैसे पर
जोड़कर बैठ जायें जहाँ
घड़ी-दो-घड़ी चहचहाये जहाँ

ये देश-निकाला की ज़िन्दगी गुज़ारते हुए लोग हिन्दोस्तान के मुख़्तलिफ़ इलाक़ों में आज भी दर-दर की ठोकरें खाते फिर रहे हैं। ये रोज़ ही उजाड़े जाते हैं और फिर ये दूसरी जगहों पर झोपड़ियाँ डाल लेते हैं। उनका आज भी स्थायी कोई ठौर-ठिकाना नहीं। हालाँकि फ़ातिमा हालात से मायूस नहीं। इन्हें यक़ीन है कि ज़ुल्मते-शब के बतन(पेट, गर्भ) से उजालों का जन्म होगा और उन मुसाफ़िर परिन्दों के मसाएल का कोई-न-कोई हल ज़रूर निकलेगा।

फ़ातिमा 'शेरा' की नज़्म 'ख़्वाबों की अंजुमन' के मुताला से ये बात स्पष्ट हो जाती है कि ये इक़्बाल की शायरी से बहुत मुतास्सिर हैं। इनकी नज़्म का आहंग इक़्बाल की याद ताज़ा करा देता है, जहाँ फ़ित्रत के राज़ को आश्कारा करने की कोशिश की गयी है, जहाँ अहदे-हाज़िर के पेशे-नज़र नयी और पुरसुकून दुनिया का ख़्वाब देखने की कोशिश की जाती है और इस यक़ीन के साथ कि जंगो-जदल की दुनिया ख़्वाबों की दुनिया से मुख़्तलिफ़ होगी। इसीलिए नज़्म 'ख़्वाबों की अंजुमन' में ख़ुदकलामी की फ़ज़ा हमवार होने लगती है कि काश वहाँ की दुनिया हमारी दुनिया जैसी न हो और इसी सबब नज़्म में कई जेहतें खुलती चली जाती हैं। इनकी नज़्में क़त्लो-ख़ून, ग़ारतगरी की निशानदेही करती है। 'शेअरा' इससे हटकर पुरसुकून दुनिया के ख़्वाब देखती हैं कि जहाँ—

खेत लहलहाते हो नदियाँ छलकती हों
पँखुड़ियों पे पीतल की गाकरें चमकती हों
बस्तियाँ न जलती हों कारवाँ न लुटते हो
दर-ब-दर न फिरते हों ख़ानमाबदोश इसमें

आरज़ुओं और तमन्नाओं की आग पल भर में सर्द हो जाती है। ख़ैरो-बरकत के हसीन ख़्वाब रद हो जाते हैं, ख़्वाब देखनेवाली आँखें हक़ीक़त की जलती-सुलगती बेरूह और बेरौनक़ दुनिया में वापस आ जाती है और फिर जलते-सुलगते नाहमवार रास्तों का सफ़र शुरू होता है, जो मौजूदा अहद का मुक़द्दर है। फिर वही बेयक़ीनी, हक़तल्फ़ी, नारसाई का दौर-दौरा जो मौजूदा अहद की पहचान है। यूँ कहिए 'शेरा' ने अहदे-हाज़िर की नक़ाबकुशाई अपने मख़्सूस अन्दाज़ में की है। इनकी नज़्में इनकी फ़िक्री बसीरत की आईनादार हैं। नज़्म 'फ़सीले-औरंगाबाद' तवील नज़्म है, जहाँ माज़ी की परछाईयाँ उभरती हैं और उदासी, बेचैनी की फ़ज़ा तैयार करती जाती हैं। मंज़र-ब-मंज़र गुज़रे हुए पल की यादें पाँव में ज़ंजीरें डालती हैं। इनकी नज़्मों में गुज़िश्ता दौर की मुस्लिम रियासतों के ज़वाल और उनकी ऐशपरस्ती, बेराहरवी पर भरपूर ज़र्बकारी(आघात) की गयी है कि कल जहाँ शादियाने बजते थे आज वहाँ खाक उड़ रही है—

ये फ़सीले-पारीना, ये खँडर, ये सन्नाटा
किस ख़याल में गुमसुम है ये रहगुज़ार आख़िर
मैं यहाँ भटकती हूँ सोचती हूँ थोड़ी देर
ये शिकस्त बामो-दर क्यों हैं सोगवार आख़िर
मुद्दतों यहाँ शाही रौंदती रही सबको
और कब तलक चलता उसका इक़्तिदार आखिर
बज़्मे-ऐशो-इश्रत में क्या किसी ने सोचा था
वक़्त तोड़ देता है ऐश का ख़ुमार आख़िर

ये अश्आर फ़ितरत के पसे-पर्दा कितनी उदासी, बेचैनी और क़र्ब अपने अन्दर समेटे है। इनसे पता चलता है कि शेरा की नज़्में इंसानी दुख-दर्द से इबारत हैं। जहाँ हाल का मातम ही नहीं माज़ी का दुख भी है। 'शेरा' की इब्तिदाई दौर की शायरी सादा, सलीस, ग़नाइयत और नग़्मगी से ताबीर की जायेगी, जहाँ निस्वानी(स्त्रीगत) जज़्बातो-एहसासात में बला की शिद्दत पायी जाती है, जहाँ दिमाग़ कम दिल से ज़ियादा काम लिया गया है। मिस्रे भी सादा और सलीस हैं। मिस्रों की बन्दिश और तराकीबें भी इतनी पेचीदा नहीं हैं जो उनके दूसरे मज्मूए 'गिला-ए-सफ़ूरा' की नज़्मों में क़ारी (पाठक) को ठहरने पर मज्बूर कर देती हैं। बक़ौल फ़ज़ील जाफ़री- ''शेअरा की इब्तिदाई शायरी ग़ैरमामूली हद तक ग़नाई और दाख़िली थी। निस्वानी और नौबलूग़ियत के दौर से ताल्लुक़ रखनेवाले ऐसे शदीद जज़्बात जो आज किश्वर नाहीद, फ़हमीदा रियाज़ और परवीन शाकिर जैसी पाकिस्तानी शायरात की बेह्तरीन नज़्मों का तुर्रा-ए-इम्तियाज़ बने हुए हैं। जदीद शायरी में सबसे पहले 'शेअरा' के तवस्सुत(माध्यम) से ही दाख़िल होते थे।''

इसमें कोई शक नहीं कि फ़ातिमा ने उर्दू की शायरात को वो राह दिखायी जो शायरी के मेआर को आला-ओ-आरिफ़ा बनाती है। आज उर्दू-शायरी के मंज़रनामे पर जो शायरात नज़र आ रही हैं कमोबेश सभी ने 'शेअरा' से असरात क़ुबूल(प्रभाव-ग्रहण) करते हुए अपने शायराना लबो-लहजे, रंगो-आहंग, उस्लूबो-तर्ज़ को मुन्फ़रिद-ओ-यक्ता बनाया है। 'शेरा' के अन्दर सुलगनेवाले वो एहसासातो-जज़्बात जो तख़्लीकी अमल को बढ़ाते-भड़काते रहे हैं, और जो उनकी शायरी का ख़ास्सा हैं आज की शायरात ने अपने अन्दाज़ों और अदा से अपनी शायरी का हिस्सा बनाया है। मेरा ख़याल है कि ये दूररस नतीजों के हामिल होंगे। 'शेअरा' का एक रंग ये भी है-

बयाबाँ सब्ज़ए-नौख़ेज़ से आबाद होते हैं
सखी तुम भी जो दिल अपना बसा लेतीं तो क्या होता
हया है, ख़ौफ़ है, पिन्दार है, ज़द है, ये क्या शै है
तुम इस ख़ुदसाख़्ता ज़िन्दाँ को ढा देतीं तो क्या होता
हमेशा इल्तिज़ाएँ राएगाँ जाती रहीं मेरी
कभी मेरी ख़ुशी की भी दुआ लेतीं तो क्या होता

इस क़बील की दूसरी नज़्म 'चराग़े-तहे-दामाँ' का एक बन्द मुलाहिज़ा फ़रमायें। जहाँ 'शेरा' अपने हमअसरों के हमराह नज़र आती हैं, लेकिन अपनी अलग शिनाख़्त के साथ-

तेरी रहगुज़र में धड़क उठा दिले-ज़ार फिर
न कभी मिले न कभी क़रीने की बात की
ग़मे-कायनात की ओट में न बपा हुईं
वो अधूरी पूरी कहानियाँ ग़मे-ज़ात की
कि उन्हें सुनाने का और सुनने का हक़ न था

मज्मूआ 'आफ़ाक़े-नवा' के बाद 'गिला-ए-सफ़ूरा' तक आते-आते 'शेअरा' की शायरी ने ख़्वास से बिलावास्ता अपना रिश्ता जोड़ लिया। इस्लामी तल्मीहातो-इस्तिआरात ने तवस्सुफ़ के ज़ेरे-असर और पेचीदगियाँ पैदा कर दीं, जहाँ 'शेअरा' की नज़्मों को रुक-रुककर और सँभल-सँभलकर पढ़ने की ज़रूरत है।

शफ़ीक़ फ़ातिमा 'शेअरा' को बयकवक़्त उर्दू, फ़ारसी, अरबी तीनों ज़बानों पर महारत हासिल है। यही वज्ह है कि उनकी शायरी में फ़ारसी, अरबी के अल्फ़ाज़ की बहुतात है। बेशतर मिस्रों की बन्दिशें फ़ारसीआमेज़ हैं। अरबी के टुकड़े भी जगह-जगह नूर बिखेरते नज़र आते हैं। मिसाल के तौर पर– शाख़हाए-ख़ुश्क, बस्तए-ज़ियानो-सूद, अक़्लीमो-आदो-समूद, अबद आ शाम तन्हाई, बसाने-ख़िज़्र, आफ़्रीनिश आफ़रीदा; इस तरह के फ़ारसी और अरबीआमेज़ टुकड़े और तराकीब कस्रते-इस्तेमाल में हैं और यही लबो-लहजा उनकी अस्ल पहचान है। उन्होंने शायराना इज़्हार के लिए ये पैराये अख़्तियार किया है। उनके यहाँ ये कहना ग़लत न होगा कि ज़ेह्नी कुशादगी की बुनियाद पर ये इख़्तिराआत अमल में आती हैं। दरअस्ल ज़बान पर उनकी क़ुद्रत ने उनको इज़्हार के सलीक़े अता किये। बतौर नमूना फ़ारसीआमेज़ तराकीब मुलाहिज़ा हों– फ़नागाह, गुम्बदे-शब, आतिशे-जेहद, माहे-बदल, दारा-ए-दहर, शाख़े-ईजाद, फस्ले-नेक फ़ाल; ये सब तराकीब अपनी-अपनी वज़्अकर्दा हैं।

दरअस्ल 'शेरा' ख़ास लोगों की शायरा हैं। हिन्दो-पाक में इस पाये की शायरा दूर-दूर तक नज़र नहीं आती। अस्सी बरस की उम्र में भी मश्के-सुख़न जारी है। 'शेरा' की ग़ज़लें भी आम रविश से हटकर अपनी अलग शिनाख़्त रखती हैं। उनकी ग़ज़लों पर ख़ामाफ़र्साई के लिए एक अलग मज़्मून की ज़रूरत है, जो किसी और वक़्त के लिए उठा रखता हूँ।

(मूल उर्दू से लिप्यन्तरण : नूरुल एस. अंसारी)

याहिया नशीत
24- काशाना
कलगाँव, यवतमाल
पिन- 445203 (महाराष्ट्र)
मो.- 09421771417

याहिया नशीत का पूरा नाम डॉ. सैयद याहिया नशीत है। जीवन भर उच्चतर शिक्षा में अध्यापन कार्य किया और कुछ वर्षों पहले ही सेवानिवृत्त होकर अब पूरी तरह साहित्य-सेवा में समय देते हैं। उर्दू-भाषा और मराठी भाषा के आपसी रिश्तों और सांस्कृतिक आदान-प्रदान पर इनकी दो किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं- 'उर्दू-मराठी के तह्ज़ीबी रिश्ते'(1996) तथा 'उर्दू मराठी के बाहमी रवाबित' (2004)। इसके अलावा समय-समय पर प्रकाशित आपकी एक दर्जन से अधिक किताबें उर्दू-आलोचना को विशिष्ट प्रकार से समृद्ध कर रही हैं।

यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा लेख ग़ालिब की ग़ज़लों में उपस्थित व्याकरणगत विशेषताओं को उद्घाटित करता है। आमतौर से गद्य में अव्यय और कारकों पर वाक्य-संरचना में अर्थगत दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। यद्यपि कि इनका महत्त्व अपनी जगह गद्य में भी अपरिहार्य होता है, परन्तु पद्य में विशेषकर ग़ज़ल जैसी शब्दों की मितव्ययी विधा में ये छोटे-छोटे लफ़्ज़ ही अर्थों का निर्धारण करते हैं और कभी-कभी तो पूरे शेर के अर्थ-नियामक हो जाते हैं।

याहिया नशीत

कलामे-ग़ालिब में हर्फ़ 'से' की मानवीयत-१

फ़ारसी की तरह उर्दू-व्याकरण के भी तीन हिस्से माने जाते हैं। इल्मे-हिजा, इल्मे-सरफ़ और इल्मे-नह्व। इल्मे-हिजा में हुरूफ़(अक्षरों) और उनकी आवाज़ों पर बहस होती है। इल्मे-सरफ़ में हुरूफ़(अक्षरों) की जुड़वाँ शक्ल या अल्फ़ाज़ ज़ेरे-बहस आते हैं, जबकि इल्मे-नह्व में जुम्ले की साख़्त(संरचना) पर ग़ौर किया जाता है। क़ाबिले-ग़ौर बात ये है कि इल्मे-सरफ़ में अल्फ़ाज़ की क़िस्मों (इस्म, ज़मीर, सिफ़त, फ़ेल और तमीज़; क्रमशः संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय) के अलावा बक़िया क़िस्मों (हर्फ़े-रब्त, हर्फ़े-अत्फ़ और फ़ज़ाइया) को स्वयं अपने-आप में कोई मानी(अर्थ) न रखने की बुनियाद पर हर्फ़ों में शामिल कर लिया गया है। मस्लन्–'की', 'के', 'को', 'कि', 'भी', 'मगर', 'में', 'पर', 'से', 'लेकिन', वग़ैरह। अलग-अलग ढंग से ये कल्मात भी अपने अर्थ ज़रूर रखते हैं, हो सकता है उर्दू-डिक्शनरी में इनके अर्थ न दिये गये हों।

दरअस्ल अल्फ़ाज़ (जिसे कुछ व्याकरणविदों ने कलमा, अर्थात् वाक्य भी कहा है) की इब्तिहाई चार क़िस्में (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया) ऐसी हैं जिन पर काल (भूतकाल, वर्तमान काल भविष्यकाल), लिंग (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग), तादाद (एकवचन, बहुवचन) और हालत (मुतकल्लिम, हाज़िर, ग़ायब) के प्रभाव क्रमबद्ध होते हैं और इनकी अपनी शक्लें तब्दील होती रहती हैं, मगर बाक़ी मान्दा अल्फ़ाज़ यानी– तमीज़, कल्मा-ए-रब्त, कलमा-ए-अत्फ़ और फ़ज़ाइया) पर उपर्युक्त उल्लिखित अवामिल अपना कोई असर नहीं डालते, न ही इनकी में तब्दीली होती है। वो अपनी अस्ल हैयत(रूप) पर बरक़रार रहते हैं।

व्याकरणविदों ने कलमा-ए-रब्त (कारक) की जुज़्वी क़िस्में हुरूफ़ जार (को, ने, मैं, पर, से, तक) और हुरूफ़े-इज़ाफ़ी (को, की, के) के दरमियान कोई फ़र्क़ क़ायम नहीं किया। जहाँ तक हर्फ़े-जार 'से' के नह्वी इस्तेमाल का ताल्लुक़ है तो शायरी में इसके इस्तेमाल से तफ़्हीमे-शेर में उलझन पैदा होने की आशंका लगी रहती है। इस मैदान में मुब्तदी और ग़ैरउर्दूदाँ तब्क़ा ही नहीं, दानिशवर भी ठोकर खाते हैं। चुनांचे ग़ालिब अपने ख़त (बनाम क़ाज़ी अब्दुल जमील जुनून बरेलवी, तारीख़- 19 मार्च 1864) में लिखते हैं–''मोमिन ख़ाँ के इस मिस्रे में तरद्दुद किया। क्या है–'तुम से दुश्मन की मुबारकबाद क्या', 'से' बमानी 'अज़' नहीं, बल्कि बमानी 'मिस्ल'-ओ-'मानिन्द' है, यानी–चूँ तू दुश्मन अगर तहनियत दहद बराँ चे एतबार?

वस्ल के वादे से हो दिल शाद क्या
तुम से दुश्मन की मुबारकबाद क्या

यानी अगर तुमने कहा कि लो मुबारक हो, कल हम आयेंगे या तुम्हें बुलायेंगे। हम ऐसे वायदे से क्या ख़ुश होंगे? तुम जैसे दुश्मन के मुबारकबाद देने से क्या होता है।''

('ग़ालिब के ख़ुतूत', मुरत्तबा : डॉ. ख़लीक़ अंजुम, जिल्द चहारम, पृ.-1509)
उल्लिखित शेर मोमिन की ग़ज़ल का मत्ला है। 'ग़ालिब' ने इसके पहले मिस्रे को बदल दिया था। 'मोमिन' के शेर का अस्ल मिस्रा यूँ है–'वादए-वस्लत से हो दिल शाद क्या'। इस शेर के मिस्रा-ए-सानी के लफ़्ज़ 'से' को 'जुनून' समझ न सके थे, इसलिए उन्होंने 'ग़ालिब' से इस बारे में इस्तिफ़्सार(जिज्ञासा) किया था और 'ग़ालिब' ने 'से' के मानी व्याख्या के साथ बयान कर दिये।

कलामे-ग़ालिब गंजीना-ए-मानी का तिलिस्म है। इनके यहाँ लफ़्ज़ 'से' का जादू सर चढ़कर बोलता है। इस जादूनगरी में बहुत-से दानिशवराने-सुख़न ठिठक गये हैं। यहाँ ग़ालिब इंस्टीट्यूट द्वारा आयोजित 23 जून, 1984 का सेमिनार याद आ रहा है। ग़ालिबन् 'तफ़्हीमे-ग़ालिब' के उन्वान से सेमिनार में ग़ालिब के निम्नलिखित शेर पर बहस हो रही थी–

जामे-हर ज़र्रा है सरशारे-तमन्ना मुझसे
किसका दिल हूँ कि दो आलम से लगाया है मुझे

बहस में अदीबों, दानिशवरों और माहिरीने-ग़ालिब के अलग-अलग विचार सामने आये, लेकिन प्रोफ़ेसर उन्वान चिश्ती(मरहूम) ने उल्लिखित शेर में नये दृष्टिकोण और मर्म तलाश करने की कोशिश की थी। उन्होंने कहा था–''पहले मिस्रे में 'मुझसे' का 'से' भी ग़ौरतलब है। अहदे-मीर तक 'से' 'मानिन्द और तरह' के अर्थ में इस्तेमाल होता था। अगर ग़ालिब के शेर में 'मुझसे' को 'मेरी मानिन्द' तसव्वुर कर लिया जाय तो इसकी नस्र होगी–''हर ज़र्रे का जाम मेरी तरह सरशारे-तमन्ना है। (मैं) किसका दिल हूँ कि मुझे दो आलम में लगाया गया है।''

दरअस्ल मरहूम उन्वान चिश्ती को इस शेर में मौजूद लफ़्ज़ 'से' को समझने में इल्तिबास (भ्रम) हुआ था। यहाँ 'से' अदाते-तश्बीह(उपमा का वाचक शब्द) नहीं 'हर्फ़े-जार'(कारक) के तौर पर इस्तेमाल हुआ है। अगर अदाते-तश्बीह के तहत इसके मानी 'मानिन्द' मुराद लिये जायें तो ग़ालिब के इस शेर में कई सरफ़ी-ओ-नह्वी ऐब सामने आयेंगे, जो ग़ालिब जैसे कुहनामश्क़, सुख़नशनास के यहाँ मुम्किन नहीं हैं। मस्लन् उपमा के वाचक शब्द की उर्दू में तीन सूरतें निर्धारित हैं– (i) 'सा' (एकवचन, पुल्लिंग) उर्दू में इसका इस्तेमाल कुछ इस तरह हुआ है–

इश्क़ है अय 'ज़ौक़' वो काफ़िर कि जिसके हाथ से
शेख़ सनूआ-सा मुसल्माँ रिन्द मुश्रिब हो गया

नमाज़ों में मसीहा-सा पयम्बर मुक़्तदी होगा
वही रुत्बा है तेरा भी जो रुत्बा था तेरे जद का

(ii) 'सी' बतौर एकवचन, स्त्रीलिंग, जैसे–

नाज़ुकी उनके लब की क्या कहिए पंखुड़ी इक गुलाब की-सी है

(iii) 'से' बतौर बहुवचन पुल्लिग/स्त्रीलिंग, मस्लन्–

जल्वे ख़ुर्शीद के-से होते हैं नग़्मे नाहीद के-से होते हैं

सर्व-सा क़द तो गुल-से रुख़सारे शाने बाज़ू भरे-भरे सारे

अगर उन्वान चिश्ती की मान्यता को सही, यानी 'मुझ से' के 'से' को उपमा का वाचक शब्द, मान लिया जाता है तो शेर में 'तरफ़ीन तश्बीह'(उपमेय) चूँकि एकवचन है इसलिए यहाँ उपमा का वाचक शब्द एकवचन यानी 'सा' (मुझ सा) इस्तेमाल होना चाहिए था (यानी ज़र्रे का का जाम मेरे मानिन्द (मुझ सा) सरशारे-तमन्ना है)। दूसरी सूरत ये भी हो सकती है कि 'जामे-हर ज़र्रा' की तर्कीब में 'जाम' को बहुवचन के सेग़े के तौर पर क़ुबूल कर लिया जाये; यानी 'हर ज़र्रे के जाम मेरी मानिन्द सरशारे-तमन्ना है), इस सूरत में फ़ेल नाक़िस(सहायक क्रिया) 'है' के बजाय 'हैं' आयेगा, मगर ग़ालिब के यहाँ शेर में ये दोनों नह्वी(व्याकरणिक) हालतें अनुपस्थित हैं, तो क्या हम इसे ग़ालिब की ग़लती या भूल समझेंगे?

हक़ीक़तन् उल्लिखित शेर में 'से' हर्फ़े-जार के तौर पर है। अदाते-तश्बीह(उपमा के वाचक शब्द) से इसका इस शेर में कोई सम्बन्ध नहीं। इस सूरत में मिस्रे का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है कि मेरे कारण हर ज़र्रे का जाम सरशारे-तमन्ना है। उर्दू व्याकरण में हर्फ़े-जार 'से' के सरफ़ी-ओ-नह्वी प्रयोग के कई पहलू हैं और हर पहलू से इसके अर्थगत सम्बन्ध हैं। मस्लन् 'चाकू से आम काटो' में 'से' का जो स्थान या औचित्य है वो 'दरख़्त से फल गिरा' के 'से' का हरगिज़ नहीं। 'तुम से अच्छा कौन है?' इस इस्तिफ़हामिया(प्रश्नवाचक) जुम्ले में 'से' का जो अर्थ उत्पन्न होता है, वही अर्थ 'मुल्क में बहुत से कारख़ाने हैं' में मौजूद 'से' से नहीं लिया जा सकते। गोया जुम्ले की नहवी तर्कीब(व्याकरणिक संरचना) में मुख़्तलिफ़ अन्दाज़ से इस्तेमाल होनेवाले हर्फ़े-ज़ार 'से' के अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं, लेकिन इन अलग-अलग अर्थों में फ़र्क़ करने का कोई निश्चित या स्थायी उसूल उर्दू-व्याकरण में दिखायी नहीं देता। अगर हम 'से' का इस्तेमाल होनेवाले उर्दू जुम्लों का अँग्रेज़ी अनुवाद कर लें तो 'से' के कुछ ख़ूबसूरत रंग स्पष्ट दिखायी देंगे। सिर्फ़ उर्दू के एक 'से' हर्फ़ के लिए अँग्रेज़ी में ये prepositions इस्तेमाल होते हैं, जैसे through, along, than, by, withto, from वग़ैरह। इनके अलावा as और like भी अदात-तश्बीह(उपमावाची) के लिए इस्तेमाल होते हैं। हमारे नाक़िदीन(आलोचकों) और व्याकरणविदों ने 'सामने के अल्फ़ाज़' कहकर 'से' जैसे बीसों कलमात पर तवज्जो नहीं दी। अँग्रेज़ी में शेक्सपियर की रचनाओं पर जो डिक्शनरी निर्मित हुई है, उनमें शेक्सपियर के यहाँ इस्तेमाल होनेवाले prepositions और conjunctions तक की इण्ट्री(प्रविष्टि) की गयी हैं और उनके अर्थगत अन्तर को स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है।

ग़ालिब के कलाम में 'से' की एक जादुई मिसाल हम ऊपर देख चुके हैं। इन्होंने 'से' को और भी कई मायनों में इस्तेमाल करके मानीआफ़्रीनी के तिलिस्म को जगाया है। इनके दीवान (कालीदास गुप्ता 'रज़ा' द्वारा सम्पादित) में 'से' की रदीफ़वाली सात ग़ज़लें हैं, जिनमें पन्द्रह अश्आर हैं। इन ग़ज़लों के अलावा कत्आत में सात अश्आर हैं जिनकी रदीफ़ भी 'से' है। बाक़ी पूरे दीवान में अलग-अलग क़सीदे, सलाम, रुबाइयत वग़ैरह में ग़ालिब ने कुल मिलाकर लगभग ९०० बार 'से' का इस्तेमाल किया है। रदीफ़वार उसकी तफ़्सील में न जाकर बस इतना उल्लेख काफ़ी है कि दीवाने-ए-ग़ालिब में कुल ८४ ग़ज़लें ऐसी हैं जिनमें हर्फ़ 'से' का मुत्लक़ (सामान्य) इस्तेमाल नहीं हुआ है। दीवाने-ग़ालिब में 'से' की शुमूलीयत(शामिल होना) की सूरते-हाल के बाद इसके इस्तेमाल की नैरंगियों(प्रकारों) पर भी नज़र डालते चलें कि ग़ालिब ने इसे ('से' को) एक व्याकरणविद् और ज़बानदाँ की हैसियत से बरता है और अपनी लफ़्फ़ाज़ी और मानीआफ़्रीनी के ऐसे जौहर दिखाये हैं कि हम आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। नीचे ग़ालिब के कलाम में 'से' के इस्तेमाल की तफ़्सील दी जा रही है। इससे कलामे-ग़ालिब में 'से' के अर्थों का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा–

(i) अलामते-आला : 'चाकू से आम काटो', 'कारख़ाने बिजली से चलते हैं'; यहाँ 'से' फ़ेल (क्रिया) के ज़रिअे की शिनाख़्त करने के लिए इस्तेमाल हुआ है। ग़ालिब ने 'से' की इस अलामत को मुख़्तलिफ़ अन्दाज़ में अपनाया है–

दीदार-तलब है वामान्दा कि आख़िर
नोके-सरे-मिज़्गाँ 'से' रक़म हो गिला-ए-पा

रफ़्तार 'से' शीराज़ए-अज्ज़ाए-क़दम बाँध
अय आबले, मुह्मिल पए-सहराए-अदम बाँध

चश्मे-नर्गिस में नमक भरती है शबनम 'से' बहार
फ़ुर्सते-नश्वोनुमा साज़े-शिकेबाई नहीं

दर्द इज़्हार तपिश कसौती गुल मालूम
हूँ मैं वो चाक कि काँटों 'से' सिलाया है मुझे

करेंगे क़द्र अश्के-दीदए-आशिक़, ख़ुदआरा याँ
सदफ़, दनदाने-गौहर 'से' बहसरत अपने लब काटे

ग़ालिब इन अश्आर में बिलतर्तीब गिला-ए-पा को नोके-मिज़्गाँ(पलकों की नोक) से रक़म (लिखने) करने का मश्विरा देते हैं। रफ़्तार से शीराज़ए-अज्ज़ाए-क़दम बाँधने की तद्बीर बताते हैं। चश्मे-नर्गिस में शबनम के ज़रिअे नमक भरे जाने पर बहार का गिला करते हैं। चाक, काँटों से सिलाये जाने पर अफ़्सोस करते हैं और सदफ़ का बहस्रत दनदाने-गौहर(गौहर के दाँत) से अपने लब काट लेने की बात भी करते हैं। उपरिलिखित पाँचों अश्आर में 'ज़रिआ-ए-फ़ेल'(करण कारक) की निशानदेही के लिए हर्फ़ 'से' को इस्तेमाल किया गया है। हर्फ़े-जार के इस तरह के इस्तेमाल से ग़ालिब से अश्आर की मानवी तह(अर्थवत्ता) और गहरी हो गयी है।

(ii) 'से' बतौर अलामते-इल्लत : हर्फ़ 'से' जब वज्ह-ए-अमल की निशानदेही करता है, वहाँ वो अलामते-इल्लत माना जाता है। जैसे–आपकी आमद 'से' ख़ुशी हुई, इल्म 'से' इज़्ज़त मिलती है, वग़ैरह। इस मानी में कभी-कभी वज्ह, मक़्सद, 'इस ख़याल से', 'इस वज्ह से' जैसे अल्फ़ाज़ भी इस्तेमाल होते हैं। ग़ालिब के दीवान में हर्फ़े-इल्लत के तौर पर 'से' का बहुत प्रयोग हुआ है–

बोसए-लब 'से' मिली तब्अ को कैफ़ीयते-हाल
मैए-कशीदन 'से' मुझे नश्शए-तिर्याक चढ़ा

यहाँ तब्अ को कैफ़ीयते-हाल मिलने की वज्ह बोसा-ए-लब और नश्शा-ए-तिर्याक चढ़ने की इल्लत(कारण या वज्ह) मैए–कशीदन है–

दिलो-जिगर तफ़े-फ़ुर्क़त 'से' जलके ख़ाक हुए
वले हनोज़ ख़याले-विसाल ख़ाम रहा

बसकि जोशे-गिरिया 'से' ज़ेरो-ज़बर वीराना था
चाके-मौजे-सैल ता पैराहने-दीवाना था

अयादत 'से', 'असद' मैं बेशतर बीमार रहता हूँ
सबब है नाख़ुने-दख़्ले-अज़ीज़ाँ, सीना ख़स्तन पर

ग़ालिब इन अश्आर में 'दिलो-जिगर का जल जाना', 'वीराने का ज़ेरो-ज़बर हो जाना' और 'असद' का बेशतर बीमार रहना' इन क्रियाओं या कर्मों की वज्ह(इल्लत) बिलतर्तीब 'तफ़े-फ़ुर्क़त', 'जोशे-गिरिया' और 'अयादत' को क़रार देते हैं। इन तमाम अश्आर में इल्लत का निशानकार 'से' है।

(iii) तौरी अलामत : फ़ेल(क्रिया) इस्म(संज्ञा) की हालत निशानदेही करने के लिए भी 'से' का इस्तेमाल किया जाता है। मस्लन्- 'नसीहत ग़ौर 'से' सुनो', 'मज़्दूर अख़्लास 'से' काम करते हैं' कभी-कभी फ़ेल में 'से' जोड़ने की वज्ह से सिला फ़ेल (तमीज़ यानी अव्यय) भी बन जाते हैं। जैसे–'वो धम्म 'से' कूदा', 'धड़ाम 'से' गिरा', 'मज़े 'से' सैर को जाओ', 'अपनी बला 'से' बैठ रहे जब फ़क़ीर हो', अपनी ख़ुशी 'से' आये न अपनी ख़ुशी चले' वग़ैरह। फ़ारसी में ऐसे हर्फ़े-जार के लिए बे(ब) और 'वार' के साबिक़ा-लाहिक़ा(उपसर्ग-प्रत्यय) लगाये जाते हैं। मस्लन् बख़ुशी, बज़ोर या तफ़्सीलवार, माहवार वग़ैरह। ग़ालिब के यहाँ तौरी अलामत के तौर पर 'से' निहायत मानीख़ेज़(अर्थपूर्ण) अन्दाज़ में बरता गया है, जिससे ख़याल की ताज़गी और नज़ाकते-मानवी में ग़ैरमामूली इज़ाफ़े का एहसास होता है–

इज्ज़ 'से' अपने ये जाना कि वो बदख़ू होगा
नब्ज़े-ख़स 'से' तपिशे-शोलए-सोज़ाँ समझा

इस शेर में पहला 'से' (इज्ज़ 'से') तौरी अलामत है और मिस्रा-ए-सानी में 'से' 'अलामते-आला' के तौर पर इस्तेमाल हुआ है। हमारे इज्ज़(स्वभाव की नम्रता) से बदख़ूई(कड़वापन) का गुमान करना ऐसा ही है जैसे मामूली घास-फूस से शोला-ए-सोज़ाँ की तपिश मालूम करना। यहाँ हर्फ़े-जार के इस्तेमाल से मानवी ख़ूबी पैदा हो गयी है–

शब हुई, फिर अंजुमे-रख़्शन्दा का मंज़र खुला
इस तकल्लुफ़ 'से' कि गोया बुतकदे का दर खुला

बला 'से', गर मिज़्हे-यार तश्नए-ख़ूँ है
रखूँ कुछ अपनी भी मिज़्गान ख़ूँफ़िशाँ के लिए

गर ये हाए-बेदिलाँ, गंजे-शरर दर आस्तीं
क़ह्र मान इश्क़ में हस्रत 'से' लेते हैं ख़राज

ये ग़ज़ल अपनी मुझे, जी 'से' पसन्द आयी है आप
है रदीफ़ शेर में, ग़ालिब ज़िबस तक़्रार दोस्त

उपर्युक्त शेरों में, 'इस तकल्लुफ़ से', 'बला से', 'हस्रत से' और 'जी से' में तौरी हालतों का बयान है और उनकी निशानदेही 'से' से की गयी है। उर्दू-शायरी में हर्फ़े-जार(से) का इस नौअ(प्रकार) का इस्तेमाल अक्सर शोअरा के यहाँ बड़े सह्ल अन्दाज़ में हुआ है। जैसे–

अब तो आराम से गुज़रती है
आक़िबत की ख़बर ख़ुदा जाने

कहीं काम दिल की शिकायत 'से' है
कहीं नक़्शे-दीवारे-हैरत 'से' है

तमाशा कि अय महवे-आईनादारी
तुझे किस तमन्ना 'से' हम देखते हैं

(iv) तमीज़ी हालत : उर्दू क़वाएद में फ़ेल(क्रिया) की विशेषता कभी-कभी 'से' के ज़रिअे भी चिह्नित की जाती है, जैसे 'आशिक़ का जनाज़ा है बड़ी धूम 'से' निकले', 'तुम्हें आमखाने 'से' ग़रज़', 'ये बात पूरे वुसोक़ 'से' कही जाती है' वग़ैरह। ग़ालिब के यहाँ फ़ेल(क्रिया) की तमीज़ी हालत की निशानदेही करनेवाले 'से' की मिसालें भी मिल जाती हैं–

नागहाँ उस रंग 'से' ख़ूनाबा टपकाने लगा
दिल कि ज़ौक़े-काविशे-नाख़ुन 'से' लज़्ज़तयाब था

हसरत 'से' देख रहते हैं, हम आबो-रंगे-गुल
मानिन्दे-शबनम, अश्क हैं मिज़्गाने-ख़ार के

ज़िन्दगी अपनी जब इस शक्ल 'से' गुज़री 'ग़ालिब'
हम भी क्या याद करेंगे कि ख़ुदा रखते थे

तेरी वफ़ा से क्या हो तलाफ़ी कि दह्र में
तेरे सिवा भी हम पे बहुत 'से' सितम हुए

इन अश्आर में, 'उस रंग से ख़ूनाबा टपकाना', 'हस्रत से देखना', 'ज़िन्दगी का इस शक्ल से गुज़रना', 'बहुत से सितम होना' जैसे वाक्यों में क्रिया की विशेषता को बयान किया गया है और विशेषता का निशानकार 'से' है। यहाँ पहले शेर में ख़ूनाबा टपकाने के अमल की तरफ़ इशारा है, दूसरे शेर में देखने की कैफ़ीयत बयान की गयी है, तीसरे शेर में ज़िन्दगी गुज़रने की हालत को स्पष्ट किया गया है और चौथे शेर में बहुत से सितम होने का ज़िक्र है।

(v) अलामते-तबादल : कभी-कभी तब्दीली-ए-हालात के बयान में हर्फ़े-जार 'से' अपने अस्ल मानी से हटकर कुछ मुख़्तलिफ़ अर्थ देने लगता है। जैसे 'क्या से क्या होगा', 'असा से अज़्दहा बन गया' वग़ैरह। उर्दू-शायरी में ऐसी तर्कीबें अक्सर इस्तेमाल हुई हैं। मस्लन्– 'महवे-हैरत हूँ कि

दुनिया क्या-से-क्या हो जायेगी'। उर्दू-मुहाविरों में भी इस क़िस्म की तर्कीबें इस्तेमाल हुई हैं, जैसे 'टस-से-मस न होना', 'आपे से बाहर होना', 'जान से जाना', 'जान से हाथ धोना' वग़ैरह। ग़ालिब ने इस तर्कीब को कुछ जगह मुहाविरों के तौर पर बरता है—

हाथ धो दिल 'से', यही गर्मी गर अन्देशे में है
आबगीना तुन्दिए-सहबा से पिघला जाये है

जो हुआ ग़र्क़ए-मै, बख़्ते-रसा रखता है
सर 'से' गुज़रे पे भी बाले-हुमा रखता है

इश्रते-क़त्रा है, दरिया में फ़ना हो जाना
हो गया गोश्त 'से' नाख़ुन का जुदा हो जाना

ऊपर उल्लिखित अश्आर में तब्दीली, कैफ़ियात का इज़्हार बड़े प्रभावशाली अन्दाज़ में किया गया है। यहाँ 'से' का वो मानी क़तई नहीं है, जो हर्फ़े-जार 'से' से लिये जाते हैं। ग़ालिब ने इन अश्आर में 'से' की मुहाविराती हैसियत का लिहाज़ रखा है। मस्लन्— पहले शेर के पहले मिस्रे में स्थित 'से' के जो मानी हैं वो दूसरे मिस्रे में इस्तेमाल हुए 'से' के अर्थ से भिन्न है।

(मूल उर्दू से लिप्यन्तरण : दीपक रूहानी)

शीन काफ़ निज़ाम
कल्लों की गली, कबूतरों का चौक
जोधपुर- 342001 (राजस्थान)
मो.- 09414136313

शीन काफ़ निज़ाम उर्दू-आलोचना से जुड़े ऐसे रचनाधर्मी आलोचक हैं जिन्हें उर्दू के साथ-साथ हिन्दी-जगत् में भी सब जानते-मानते हैं। अब तक इनके उर्दू तथा देवनागरी में कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- लम्हों की सलीब (1971), दस्त में दरिया(1984), साया कोई लम्बा न था(1988), सायों के साये में(1996), बयाज़ें खो गयी हैं(1997), गुमशुदा दैर की गूँजती घण्टियाँ(उर्दू-2007, हिन्दी-2014), रास्ता ये कहीं नहीं जाता(2010), और भी नाम है रस्ते का(2015)। आलोचना-आधारित प्रमुख पुस्तकें हैं- लफ़्ज़-दर-लफ़्ज़(2000), मानी-दर-मानी(2010)। ग़ालिब-विशेषज्ञ कालीदास गुप्ता 'रज़ा' और शायर मख़्मूर सईदी पर एक-एक किताबें भी सम्पादित की है। सन् 2014 में 'दीवाने-ग़ालिब' का उत्कृष्ट सम्पादन भी किया। आजकल त्रैमासिक 'इस्तिफ़्सार' पत्रिका का सम्पादन कर रहे हैं।

फ़ारसी जुम्ले 'जा-ए-उस्ताद ख़ालीस्त' का अर्थ है- उस्ताद की जगह ख़ाली है। उस्ताद और शागिर्द की परम्परा का धीरे-धीरे लोप किन कारणों से हुआ, ये भी एक शोध का विषय है। इतना अवश्य है कि उर्दू-शायरी में समय-समय पर भले ही कई अहम परिवर्तन होते रहे, मगर जब तक उस्ताद-शागिर्द परम्परा थी, उसने अराजकता नहीं फैलने दी। इस परम्परा के लोप से स्वयंभू शायरों का बोलबाला बढ़ा; जो कभी किसी के शागिर्द नहीं रहे वो सैकड़ों के उस्ताद बने और आगे चलकर 'सिद्धपीठ' बन गये। इस स्वस्थ परम्परा का पुनः अस्तित्व में आना कई आयामों से आवश्यक है। आज बहुत से शायर-कवि स्वयं को किसी का शागिर्द-शिष्य बताना अपमान समझते हैं।

शीन काफ़ निज़ाम

जा-ए-उस्ताद ख़ालीस्त

उर्दू-शायरी की परम्परा में इस्लाह या उस्ताद-शागिर्द का जो महत्त्व है उससे हम सब वाक़िफ़ हैं। दुनिया की किसी भी भाषा में ऐसी परम्परा नहीं मिलती। दूसरे शब्दों में इसे शुद्ध भारतीय परम्परा का नाम दिया जा सकता है। बहुत सम्भव है कि ये संगीत या अध्यात्म की गुरु-शिष्य परम्परा के अनुकरण की देन हो। पहली इस्लाह किसने किसको दी ये ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। अनुमान से ये कहा जा सकता है कि जिस किसी ने पहला शेर कहा होगा तो उस पर ग़ौर भी किया होगा– ठीक वाल्मीकि की तरह ग़ौर करने पर उसे उसमें कुछ-न-कुछ तब्दीली करने की सूझी होगी और उसने उसमें तर्मीम(संशोधन) भी की होगी। इस क़यासआराई(अनुमान) से ये नतीजा निकाला जा सकता है कि पहली इस्लाह पहले शाइर ही ने दी-ली होगी और शायद इसीलिए अरबी में शायर को तल्मीज़ुर्रहमान(ईश्वर का शिष्य) कहा जाता है।

'इस्लाह' अरबी शब्द है। इसका अर्थ है– संशोधन, सँवारना किसी भी वस्तु की बिगड़ी हुई अवस्था का सुधार, त्रुटियों को दूर करना, शुद्धि आदि। अरबी ही में इसके लिए एक और शब्द है– 'मश्विरा' यानी परामर्श, सलाह, मंत्रणा आदि। 'इस्लाह' के लिए एक और शब्द है– तर्मीम; लेकिन अगर शायर ख़ुद अपने कहे-लिखे पर ग़ौर करे और बदल दे तो उसे नज़रे-सानी(पुनर्विचार) भी कहा जाता है। मुख़्तसरन् ये कहा जाना चाहिए कि इस्लाह, मश्वरा, तर्मीम, नज़रे-सानी आदि, हैं तो सभी त्रुटियों में सुधार के नाम, लेकिन रोज़मर्रा के इस्तेमाल में पात्रों के बदलने के साथ इनके नाम भी बदल जाते हैं। जैसे अँग्रेज़ी में इस्लाह के लिए इस्तेमाल होनेवाले शब्द ''Correction, Improvement, Amendment, Emendation'' आदि। उर्दू में 'इस्लाह देना-लेना', 'इस्लाह करना', 'इस्लाह बनाना' जैसे शब्द-पद सामान्य बोलचाल में इस्तेमाल होते हैं।

उर्दू में उपलब्ध इस्लाह से सम्बन्धित साहित्य की रोशनी में अगर इस्लाह के प्रकार की बात की जाय तो मौटे तौर पर चार प्रकारों में बाँटा जा सकता है :

१. शायर स्वयं अपने कलाम पर नज़रे-सानी करे या इस्लाह दे।
२. एक समकालीन अपने दूसरे समकालीन को मश्विरा या इस्लाह दे।
३. एक उस्ताद अपने शागिर्द को इस्लाह दे।
४. बाद में आनेवाली पीढ़ी अपने पूर्ववर्ती शायरों के कलाम को अपने ज़माने के अनुसार बनाने-बताने की कोशिश करे। यानी ये स्पष्ट करने की कोशिश करे कि ज़बानो-बयान के मामले में इस समय पहले से कितनी भिन्नता है।

इस्लाह के इन प्रकारों पर बात करने से पहले ये तो हमें मानना ही होगा कि इस्लाह आलोचना का एक प्रकार है, जिसका सम्बन्ध सैद्धान्तिक से ज़ियादा व्यावहारिक आलोचना से है। और जब ये आलोचना का प्रकार है तो इसके नियम का निर्धारण भी हुआ होगा। वे नियम सर्वमान्य

नहीं तो बहुमान्य तो ज़रूर रहे होंगे। तवज्जो-तलब बात ये है कि नियम-निर्धारण में अन्य भाषाओं से कुछ नियम उधार लिये गये होंगे और कुछ अपने सृजन की माँग को देखकर बनाये गये होंगे। इसमें परम्परा के प्रवाह की अपनी भूमिका को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। यानी रद्दो-क़ुबूल भी होते रहे होंगे, आगे भी होंगे, क्योंकि मज़हब की ही तरह अदब में भी अन्तिम सत्य कुछ नहीं होता। ज़बान ज़माने की तस्वीर है। अमीर ख़ुसरो जिस ज़बान में बोलते हैं वो 'मीर' की ज़बान या 'मीर' के ज़माने को नहीं बताती। 'मीर' और 'नज़ीर' ही को लीजिए 'मीर' आम ज़बान का इस्तेमाल करते हैं, 'नज़ीर' अवाम की जबान बोलते हैं। यहाँ इस बात को स्पष्ट करना ज़रूरी है कि 'आम' से आशय वे लोगे हैं जो अवाम(सामान्यजन) से अधिक रुचि-सम्पन्न, संस्कारित और काव्यशास्त्र के नियमों से परिचित हैं। जिन्हें ये मालूम है क्या नहीं कहना है और जो कहना है उसे कैसे कहना है। उस्तादों का मानना है कि 'ग़लत-उल-आम फ़सीह-उल-कलाम'(संस्कारित और विद्वज्जन की ग़लती शुद्ध और लालित्यपूर्ण है)। यहाँ 'ग़लत-उल-आम' है 'ग़लत-उल-अवाम' नहीं। दूसरे शब्दों में अगर किसी शब्द का उच्चारण या वर्तनी विद्वज्जनों में ग़लत प्रयुक्त है तो भी सही है और फ़सीह(लालित्यपूर्ण) है, लेकिन यदि उच्चारण या प्रयोग की ग़लती अवाम द्वारा हुई तो ग़लत ही मानी जायेगी। उदाहरण के लिए एक लफ़्ज़ लें; अरबी में एक शब्द है उफ़ुक़(क्षितिज) उर्दू में इसका मान्य उच्चारण है— 'उफ़क़'। अवाम में इसका उच्चारण 'उफ़्क़' भी सुना जाता है। ये ग़लत माना जाता है। तुर्की शब्द है 'बेगुम', उर्दू में 'बेगम' है। अवाम में 'बेग़म' है। तो 'बेगुम' सही है, लेकिन 'बेगम' ग़लत-उल-आम है, यानी स्वीकार्य है, मान्य है। 'बेग़म'(पत्नी के अर्थ में) ग़लत-उल-अवाम है, यानी अमान्य है। ज़ियादा को ज़्यादा, पियाला को प्याला, ख़याल को ख़्याल, ख़त्म को ख़तम आदि कहना भी अवाम का उच्चारण माना जाता है। 'दरिया-ए-लताफ़त' के लेखक इंशा अल्ला ख़ाँ 'इंशा' दिल्ली के बादशाह और लखनऊ के नवाब और उनके क़रीब रहने या साथ उठने-बैठनेवाले या मुसाहिबों ही की भाषा को प्रामाणिक मानते थे। बाद में भी दिल्ली और लखनऊ के सभ्य समाजों के सदस्यों ही की भाषा को मान्यता प्राप्त थी। ख़ैर, ये तो एक ऐसी दास्तान है जिसके लिए दफ़्तर दरकार होगा। हमें तो इस्लाह पर बात करनी है और उसके उन प्रकारों पर जिन्हें मोटे तौर पर हम ऊपर बयान कर चुके हैं। इस्लाह देनेवालों की योग्यता और कर्त्तव्य पर भी हम बात नहीं करेंगे न इस्लाह लेनेवाले की पात्रता से यहाँ बहस है। बात है सिर्फ़ इस्लाह की।

सबसे पहले अपने कहे पर अपनी ही इस्लाह। इसे नज़रे-सानी भी कह सकते हैं। देखिए ग़ालिब ने अपने कहे में कैसे-कैसे संशोधन किये हैं—

न सताइश की तमन्ना न सिले की परवा
न हुवे गर मिरे अश्आर में मानी न सही

दूसरे मिस्रे को बदल दिया :

गर नहीं हैं मिरे अश्आर में मानी न सही

'न हुवे' को 'गर नहीं है' बना दिया। 'हुवे' 'हुए' का अर्थ देता था। अब सीधा बयान है।

रेख़्ते का वो 'ज़हूरी' है बक़ौले-'नासिख़'
आप बेबहरा है जो मोतक़िदे-'मीर' नहीं

'ग़ालिब' ने पहले मिस्रे में तर्मीम की :

'ग़ालिब' अपना ये अक़ीदा है बक़ौले-'नासिख़'
आप बेबहरा है जो मोतक़िदे-'मीर' नहीं

शेख़ नासिख़, लखनऊ के उस्ताद शायर थे। उनका शेर ये है—

शुब्हा 'नासिख़' नहीं कुछ 'मीर' की उस्तादी में
आप बेबहरा है जो मोतक़िदे-'मीर' नहीं

डॉ. कमाल अहमद सिद्दीक़ी साहिब का कहना है कि दूसरे मिस्रे में 'मोतक़िदे-मीर' नहीं 'मोतक़िदे-पीर' है। मेरे ज़ाती कुतुबख़ाने में 'दीवाने-नासिख़' दो जिल्दों में मौजूद है। ये नवलकिशोर प्रेस से 1923 ई. में छपा है। इसके पहले भाग में 'मोतक़िदे-मीर' छपा है। मुम्किन है कमाल साहिब के सामने जो नुस्ख़ा हो उसमें 'मीर' के बजाय 'पीर' छपा हो। इसकी सम्भावना यूँ भी है कि पहले मिस्रे में 'मीर' शब्द मौजूद है। कुछ उस्ताद उसी शब्द की (जो पहले मिस्रे में मौजूद हो), पुनरावृत्ति को अच्छा नहीं समझते थे। हालाँकि उस्तादों के यहाँ ऐसी मिसालें मौजूद हैं। मस्लन् मिर्ज़ा ग़ालिब ही का शेर—

हैफ़ उस चार गिरह कपड़े की क़िस्मत 'ग़ालिब'
जिसकी क़िस्मत में हो आशिक़ का गिरेबाँ होना

दोनों मिस्रों में 'क़िस्मत' लफ़्ज़ मौजूद है। ख़ैर, अगर मोतक़िदे-पीर सही है तो सिर्फ़ ग़ालिब का दूसरा मिस्रा नासिख़ का नहीं उनका अपना है। बक़ौल 'आबे-हयात' के लेखक मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' मीर के पास नासिख़ इस्लाह के लिए गये थे, लेकिन मीर ने उन्हें लौट दिया। इसके बावजूद नासिख़ मीर का सम्मान उस्ताद ही की तरह करते रहे। अगर दूसरे मिस्रे में मोतक़िदे-पीर है तो बात तामीम (व्याप्ति) यानी विस्तार ले लेती है। यानी अब शेर के मानी ये हुए कि— ऐ नासिख़! मीर के उस्ताद होने में सन्देह की गुंजाइश नहीं। जो अपने पीर(गुरु) का श्रद्धावान नहीं, वह स्वयं अभागा या वंचित है। इस बात को बल यूँ भी मिलता है कि 'नासिख़' ने एक जगह लिखा है—

मैं ही ऐ 'नासिख़' नहीं कुछ तालिबे-दीवाने-मीर
कौन है जिसको कलामे-'मीर' की हाजत नहीं

यहाँ ये बात भी क़ाबिले-ज़िक्र है कि तर्मीम या इस्लाह से पहले ये सन्देह होता था कि नासिख़ ने मीर को रेख़्ता(उर्दू का पुराना नाम) का 'ज़हूरी'(फ़ारसी का अद्वितीय शायर) कहा है, जबकि 'ज़हूरी' के प्रति श्रद्धा का भाव तो 'ग़ालिब' के यहाँ है, नासिख़ के यहाँ नहीं। अन्य बातों के अलावा पहले मिस्रे में 'ये' के बजाय 'भी' होता तो?(यानी ''ग़ालिब अपना ये अक़ीदा है बक़ौले-'नासिख़' के बजाय ''ग़ालिब अपना भी अक़ीदा है बक़ौले-नासिख़'' होता)

मर गया सदमए-आवाज़ से क़ुम की 'ग़ालिब'
नातवानी से हरीफ़े-दमे-ईसा न हुआ

'ग़ालिब' ने पहला मिस्रा यूँ बनाया—

मर गया सदमए-यकजुम्बिशे-लब से 'ग़ालिब'
नातवानी से हरीफ़े-दमे-ईसा न हुआ

पहली सूरत में 'सदमए-आवाज़'(सदमा-ए-आवाज़) था, यानी आवाज़ के सदमे से मर गया। तर्मीमशुदा सूरत में नाज़ुकी बढ़ गयी है। यानी बोलना चाहने के लिए होंठों के कम्पन के सदमे ही से मर गया। 'क़ुम' अरबी शब्द है, जिसका मतलब है 'खड़ा हो जा', 'उठ-बैठ'। ऐसी मान्यता है कि ईसा मसीह जब इस शब्द का उच्चारण करते तो मृत व्यक्ति जीवित हो जाता था। उर्दू में माशूक़ को ईसा-नफ़स भी कहते हैं, लेकिन विरह-वेदना की नातवानी(कमज़ोरी) के सबब आवाज़ तो क्या आवाज़ के निकलने से पहले ही होंठों की कम्पन भी बर्दाश्त नहीं हो सकी। 'क़ुम' की आवाज़ सुन लेता तो मरना नामुम्किन था, इसलिए आवाज़ से पहले 'जुम्बिशे-लब' ही से मर गया। इस्लाह से

शेर के सौन्दर्य में जो इज़ाफ़ा हुआ वो देखने के क़ाबिल है।

ग़मे-फ़िराक़ में तक्लीफ़े-सैरे-गुल मत दो
मुझे दिमाग़ नहीं ख़न्दाहाए-बेजा का

'ग़ालिब' ने पहला मिस्रा बदल दिया—

ग़मे-फ़िराक़ में तक्लीफ़े-सैरे-बाग़ न दो
मुझे दिमाग़ नहीं ख़न्दाहाए-बेजा का

नज़्म तबातबाई के अनुसार तो ये इस्लाह शायद लखनऊ के अनुकरण में की गयी। लखनऊ में 'मत' बमानी 'नहीं' या 'न' को मत्रूक(त्याज्य) क़रार दे दिया था। मालूम नहीं क्यों इस बात को नजरअन्दाज़ कर दिया गया कि 'मत' में एक आदेश छिपा रहता है और रोट-टोक या ताकीद का भाव भी निहित है। शेर में आजिज़ी और निवेदन का भाव है— 'भाई! मुझे माफ़ करो' जैसा। वहाँ 'मत' से 'न' का प्रयोग ज़ियादा बेह्तर है।

'ग़ालिब' के समकालीन 'ज़ौक़' के यहाँ भी इसकी मिसालें मिलती हैं। बताया जाता है कि किसी मुशायरे में 'ज़ौक़' ने मत्ला पढ़ा—

नर्गिस के फूल भेजे हैं बटुवे में डाल कर
ईमा ये है कि भेज दे आँखें निकाल कर

'ज़ौक़' के उस्ताद रह चुके शाह नसीर ने कहा— ''फूल बटवे में नहीं होते, यूँ कहना चाहिए— 'नर्गिस के फूल भेजे हैं दोने में डाल कर'।'' 'ज़ौक़' नाराज़ चल रहे उस्ताद की बात समझ गये; जवाब दिया— ''दोने में रखना होता है, डालना नहीं होता। यूँ होना चाहिए—

बादाम दो जो भेजे हैं बटुवे में डाल कर
ईमा ये है कि भेज दे आँखें निकाल कर

इसमें शक नहीं कि शाह नसीर का एतराज़ बिल्कुल ठीक था, लेकिन इस्लाह ठीक नहीं थी। 'ज़ौक़' ने बहुत उम्दा मिस्रा लगा दिया। क़ाबिले-तवज्जो एक बात ये भी है कि नर्गिस के फूल से माशूक़ की आँख को तश्बीह(उपमा) देना प्रचलन में है और आँख आशिक़ की माँगी जा रही है— ईमा(इंगित करना, इशारा करना) ये है.....। 'नर्गिस' की जगह 'बादाम' भी मज़ा देता है। आशिक़ की आँखें या इशारे में जिसकी आँखें माँगी जा रही हैं वो बादामी हैं। इस्लाह के बाद आशिक़ की आँखों का सौन्दर्य भी सामने आ गया और माशूक़ की सितमगारी भी ज़ाहिर हो गयी, लेकिन क्या इससे एक मतलब ये भी बरामद नहीं होता कि माशूक़ को भी आशिक़ की आँखें पसन्द हैं। माँगी तो वही चीज़ जाती है जो पसन्द हो और जिसे अपने पास रखने में फ़ख़्र का एहसास हो।

'ग़ालिब' और 'ज़ौक़' के बाद डॉ. इक़्बाल की अपने कलाम पर इस्लाह का नमूना देखें। इनके 'तराना-ए-हिन्दी' का उन्वान(शीर्षक) पहले 'हमारा देस' था। उन्होंने न सिर्फ़ इसका उन्वान बदला, बल्कि तवज्जो दिलाने पर अपने शेरों में भी तर्मीम(संशोधन) की है। शेर था—

पंजाब क्या, दकन क्या, बंगाल बम्बई क्या
हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा

इक़्बाल ने पहले मिस्रे को बदला 'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' और अब ये इसी तरह है। साफ़ ज़ाहिर है कि बदली हुई सूरत ज़ियादा वसीअ(विस्तार विस्तृत) अर्थ रखती है और इक़्बाल के पैग़ाम को जन-जन तक पहुँचाती है। इसी तरह इस ग़ज़ल या नज़्म का मक़्ता था—

'इक़्बाल' कोई महरम अपना नहीं जहाँ में
मालूम है हमीं को दर्दे-निहाँ हमारा

को बदलकर इस तरह कर लिया—

'इक़्बाल' कोई महरम अपना नहीं जहाँ में
मालूम क्या किसी को दर्दे-निहाँ हमारा

मक़्ते के दूसरे मिस्रे में 'हमारा' की जगह 'अपना' की ज़रूरत थी। 'इक़्बाल' ने बदलकर इस ग़लती को दूर कर दिया। ऐसी और मिसालें भी मौजूद हैं। जिनसे मालूम होता है कि शायर ने अपने कलाम पर ख़ुद ही इस्लाहें दी हैं और इस्लाहशुदा कलाम कहीं-से-कहीं पहुँच गया है। इक़्बाल ने अपनी नज़्म 'हिमाला' में भी परिवर्तन किये हैं। तवालत के ख़ौफ़ से उन्हें हफ़्ज़ किया जाता है।

इसी तरह उस्ताद जोश मल्सियानी ने अपने कलाम पर इस्लाह दी है। इस्लाह की वज्ह यानी तौजीह भी उन्हीं के शब्दों में देखें। 'जोश' का शेर था—

हुआ ज़ब्ते-गिरिया से हासिल यही
कि शाख़े-मिज़ा बेसमर हो गयी

उन्होंने पहले मिस्रे को बदल दिया 'हुआ ज़ब्ते-गिरिया से ये फ़ायदा' पहले मिस्रे का मतलब था— आँसूओं को रोकने से ये प्राप्त हुआ; अब अर्थ हुआ कि— आँसुओं को रोकने से ये फ़ायदा हुआ। अब जोश साहिब के शब्दों में संशोधन का सबब देखें— ''मिस्र-ए-अव्वल ऐसे लफ़्ज़ पर ख़त्म हो रहा था जो रदीफ़ से हमक़ाफ़िया है। सौती एतबार(ध्वन्यात्मक दृष्टिकोण) से शेर की ये सूरत मुझे नापसन्द है। तर्मीम से ये सुक़्म(कोई माने या न माने मैं तो सुक़्म ही कहूँगा) जाता रहा और एक ख़ूबसूरत तंज़ (व्यंग्य) का पहलू भी पैदा हो गया। ज़म बिल मुशाबा मद्‌ह(स्तुति में निन्दा) भी इसी का नाम है।'' मानवी दृष्टिकोण से भी 'हासिल होना' और 'फ़ायदा होना' तवज्जोतलब है।

'जोश' का शेर था—

हर गाम पे आफ़त है, मुसीबत है, बला है
दुनिया मेरी नज़रों में गुनाहों की सज़ा है

उन्होंने दूसरे मिस्रे के पहले लफ़्ज़ 'दुनिया' को 'हस्ती' बना दिया। इस बदलाव की वज्ह ये बतायी है— ''दुनिया का मफ़्हूम(अर्थ या विषय) बहुत वसीअ(विस्तृत) है। इसमें मज़म्मत(निन्दा) और तहक़ीर के मानी भी शामिल हैं, इसलिए उसकी जगह 'हस्ती' कहा गया, जिसका मफ़्हूम महदूद(सीमित) है। सज़ा के लिए भी यही लफ़्ज़ यहाँ बरमहल(औचित्यपूर्ण) हो सकता है।''

एक समकालीन की दूसरे समकालीन पर जो इस्लाहें मिलती हैं, वे भी पढ़ने और सीखने से ताल्लुक़ रखती हैं। 'मीर' ने अपने तज़्किरे में अपने समकालीन 'मज़्मून' के इस शेर—

मेरे पैग़ाम को तू ऐ क़ासिद
कहियो सबसे उसे जुदा करके

पर इस्लाह देते हुए पहले मिस्रे को यूँ बनाया— 'मेरा पैग़ामे-वस्ल ऐ क़ासिद'। शायद इसलिए कि पहले मिस्रे में 'को' अनावश्यक था। सम्बोधन-सूचक 'तू' भी इसलिए ग़ैरज़रूरी था कि 'ऐ' मौजूद है। फिर पैग़ाम क्या है, जो एकान्त में, सबसे अलग दिया जाता है। 'मीर' की इस्लाह ने इन कमज़ोरियों को तो दूर किया ही साथ ही 'पैग़ाम' के बाद 'वस्ल' यानी 'पैग़ामे-वस्ल'(मिलन का सन्देश) बनाकर अर्थ-सौन्दर्य भी बढ़ा दिया। 'पैग़ाम' क्या? किसका? वस्ल का पैग़ाम। पहले मिस्रे में 'वस्ल'(मिलन) दूसरे में 'जुदा'(वियोग)। 'वस्ल' दूसरों से 'जुदा'। इन बातों के अलावा दूसरों से जुदा(अलग) करके पैग़ाम देने का कारण भी 'वस्ल का पैग़ाम' है। शेर में उतने अर्थ हो सकते हैं जितने पाठक बरामद कर सकता है।

सच कहे जो कोई सो मारा जाय
रास्ती हैगी   दार   की   सूरत   'यकरंग'

'मीर' ने 'सच' की जगह 'हक़' कर दिया–

हक़ कहे जो कोई सो मारा जाय
रास्ती हैगी   दार   की   सूरत

'हक़' और 'सच' दो अलग ज़बानों के लफ़्ज़ हैं। 'हक़' अरबी है और सच उर्दू-हिन्दी। दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं, लेकिन 'हक़' लफ़्ज़ रखने से शेर में अर्थ-विस्तार हो गया है, और 'हक़' या 'सच' कहनेवालों का सिल्सिला मंसूर तक जा पहुँचता है, जिसने 'अनलहक़' (अहं ब्रह्मास्मि) कहा और उसे फाँसी दे दी गयी। 'रास्ती' उस ज़माने का प्रचलित शब्द है। 'रास्ती' फ़ारसी के 'रास्त' से बना होगा, जिसका अर्थ है– सच, ठीक, अनुकूल, सीधा।

बेतकल्लुफ़ हो सभों से वो मिले है 'सज्जाद'
दुख़्तरे-रज़ भी अजब तरह की मस्तानी है   'सज्जाद'

'मीर' ने लिखा है कि– ''अगर ये शेर मेरा होता तो मिस्रा-ए-अव्वल(पहली पंक्ति) मैंने इस तरह कहा होता– बेतकल्लुफ़ हो निपट सर पे चढ़े है 'सज्जाद'।'' 'निपट' उर्दू-हिन्दी का लफ़्ज़ है। जिसका मतलब है– सरासर, पूरी तरह, बिल्कुल आदि। 'दुख़्तरे-रज़' यानी अंगूर की बेटी(शराब) 'सज्जाद' सभी से मिलने का ज़िक्र करते हैं लेकिन 'मीर' सर पर चढ़ने की बात कहते हैं। 'सर पर चढ़ना' या 'सर चढ़ना' का मतलब है– गुस्ताख़ होना, बेअदब होना, बेतकल्लुफ़ होना, अनौपचारिक आदि। आन्तरिक अर्थ के तौर पर अंगूर की बेटी का 'सर चढ़ना' या 'सर पर चढ़ना' नशे की हालत में होना है और लफ़्ज़ी सत्ह पर सर चढ़ना– कमउम्री का इतरना भी है। 'मीर' की शेरियात(काव्य-शास्त्र) या बारीकी को समझने का ये एक नायाब नमूना है।

'मीर' का शेर है–

कहते तो हो यूँ कहते, यूँ कहते जो वो आता
ये कहने की बातें हैं, कुछ भी न कहा जाता

'मीर' ने पहले मिस्रे में 'यूँ' लफ़्ज़ का इस्तेमाल किया है, 'ये' का नहीं। 'ये कहते' नहीं, 'यूँ कहते'। 'मीर' के यूँ कहनेवाले तरीक़े-क़रीने ने 'सज्जाद' का शेर सुन्दर भी बना दिया और हस्बे-हाल भी। उर्दू में 'क्या कहा' के मुक़ाबले में 'कैसे कहा' पर अधिक तवज्जो की जाती है और इसका सबब ये है कि शार्गिद को ये समझ में आ जाय कि 'क्या' 'कैसे' कहा जाय।

समकालीनों की चपलकश या दोस्तों की आपसी बातचीत में भी ज़बानो-बयान की बारीकियाँ उजागर होती हैं। मिसाल में मिर्ज़ा 'दाग़' और मुंशी अमीर मीनाई की ख़तो-किताबत देखी जा सकती है। मिर्ज़ा 'दाग़' और अमीर मीनाई दोनों मुस्तनद(प्रामाणिक) उस्ताद थे। 'दाग़' दिल्ली स्कूल की और अमीर मीनाई लखनऊ स्कूल की नुमाइन्दगी करते थे। दोनों के सम्बन्ध दोस्ताना थे। बताया जाता है कि 'दाग़' ने अपनी एक ग़ज़ल अमीर मीनाई को भेजी। उस पर अमीर मीनाई ने एतराज़ भी किये और मश्विरे भी दिये। कहा जाता है कि ये किसी ऐसे शख़्स की शरारत थी जो 'दाग़' की शोह्रत से जलता था। बहुत मुम्किन है कि ये बात सच हो और इसकी पूरी सम्भावना है, लेकिन इससे दो स्कूलों, दिल्ली और लखनऊ, के तरीक़े-कार पर रौशनी भी पड़ती है। 'दाग़' का शेर है–

सितम भी हो तो मुझ पर हो, जफ़ा भी हो तो मुझ पर हो
मुझे इस रश्क ने मारा वो क्यूँ आलम का क़ातिल है

बताते हैं कि अमीर मीनाई ने लिखा– ''रश्क(ईर्ष्या) ने मारा के साथ 'क्यूँ' का लफ़्ज़ मुनासिब नहीं मालूम होता। यूँ चाहिए– 'मुझे इस रश्क ने मारा कि वो आलम का क़ातिल है'।'' शेर दोनों सूरतों में ठीक है। आगे बढ़ने से पहले 'दाग़' का जवाब भी देख लें। 'दाग़' लिखते हैं– ''मुंशी अमीर अहमद साहिब मेरे होते 'जलाल' पर क्यूँ इनायत फ़रमाते हैं। 'मुझे तो ये रश्क मारे डालता है', 'इस रश्क ने मारा', क्या ये ख़िलाफ़े-मुहाविरा है? लफ़्ज़ 'क्यूँ' मेरी राय में उचका हुआ है।''

'दाग़' का शेर है–

सितम देखो वो मुश्कें बाँधते हैं अपने बिस्मिल की
कि अपना दम चुराना भी वहाँ चोरी में दाख़िल है

अमीर मीनाई लिखते हैं– ''दूसरे मिस्रे में 'कि' बहुत बेमहल(बेमौक़ा) है। चाहिए यूँ बना लीजिए – 'चुराना अपने दम का भी वहाँ चोरी में दाख़िल है।'' 'दाग़' का जवाब भी सुन लीजिए– ''काफ़ इल्लत 'कि' मुझे यहाँ बेमहल मालूम नहीं होता। ऐन ज़बान के मुहावरे में ढला हुआ है। आपका मिस्रा भी ख़ूब है, मगर 'दम के चुराने' से 'दम चुराना' फ़सीहतर(अधिक लालित्यपूर्ण) मालूम होता है।''

सुना भी तूने ऐ दिल! क्या सदा आती है मह्शर में
यही दिन इम्तिहाँ का है हमारे कौन शामिल हैं

बताते हैं अमीर ने कहा– ''मेरे नज़्दीक 'शामिल' की जगह 'शरीक' चाहिए। शायद दिल्ली में इस जगह 'शामिल' बोलते होंगे, अगर ऐसा है तो रहने दीजिये।'' 'दाग़' का जवाब था– ''देहली की ज़बान पर 'शामिल' 'शरीक' के मानी(अर्थ) में भी आता है– बुरे वक़्त में कौन किसी का शरीक होता है, बुरे वक़्त में कौन किसके शामिल होता है।''

कुछ लोगों के ख़याल में ये ख़तो-किताबत जाली है और इसका मक़्सद 'दाग़' को 'अमीर' से कम बताना है, लेकिन जालसाज़ लखनऊ स्कूल को मानने या उसका अनुकरण करनेवाला तो है ही और उसके बयान से दिल्ली और लखनऊ स्कूल का अन्तर तो उजागर होता ही है। हमारा मक़्सद इस्लाह की वज्ह और दोनों स्कूलों के रवैये को समझना है।

जगन्नाथ 'आज़ाद' उर्दू के अहम शायर और 'इक़्बाल'-शनास थे। बचपन में अपने वालिद त्रिलोकचन्द 'महरूम' के साथ सैर कर रहे थे। वालिद ने 'आज़ाद' से कहा एक मिस्रा है– ''पहाड़ों के ऊपर बने है मकाँ'', इस पर मिस्रा लगाओ। आज़ाद ने मिस्रा लगाया– ''अजब इनकी सूरत, अजब इनकी शाँ''। 'महरूम' ख़ुश तो हुए कि छोटी उम्र के 'आज़ाद' ने मिस्रा वज़्न में कहा, लेकिन ज़बान और मुहाविरे की तरफ़ तवज्जो दिलाते हुए कहा– ''मुहावरा शानो-शौकत है, शानो-सूरत नहीं। इसे यूँ कहो–

पहाड़ों के ऊपर बने हैं मकाँ
अजब इनकी शौकत अजब इनकी शाँ

इस्लाह और तर्बियत इसी का नाम है।

बताया जाता है कि मशहूर मर्सियागो उस्ताद 'दबीर' ने अपने किसी शार्गिद का मर्सिया साफ़ लिखने के लिए किसी दूसरे शागिर्द को दिया। उसमें टीप का शेर था–

आप आते हैं, औरत न कोई सामने आये
इक़्बाल से कह दो कि अनाँ थामने आये

अनाँ का अर्थ है घोड़े की लगाम; लिखनेवाले ने दूसरा मिस्रा यूँ लिखा– ''हाँ फ़त्ह से कह दो कि अनाँ थामने आये।'' 'दबीर' ने कहा ये क्या लिखा? शागिर्द ने कहा ठीक से लिख देता हूँ। उन्होंने कहा लिख देना, लेकिन समझ तो ले कि ग़लती कहाँ और कब हुई है? लफ़्ज़ 'फ़त्ह' मुअन्नस(स्त्रीलिंग) है। जब पहले मिस्रे में ये कहा गया है कि कोई औरत सामने न आये तो फिर चाहे 'फ़त्ह' ही क्यूँ न हो, है तो औरत। उसका भी सामने आना कैसे ठीक होगा? एक मान्यता के अनुसार जब सफ़र पर रवानगी हो और औरत सामने आये तो अपशगुन हो जाता है। बारीकबीनी और उस्ताद की तालीमो-तर्बीयत या उस्तादों की सोह्बत से हासिल होनेवाली शिष्टता इसी का नाम है।

इसी तरह का एक और वाक़िआ पढ़ने में आता है। किसी नौजवान लड़के का शेर था–

जिस कमसुख़न से मैं करूँ तक़रीर बोल उठे
मुझमें कमाल वो है कि तस्वीर बोल उठे

शेर बहुत पसन्द किया गया। 'आतिश' भी मुशायरे में मौजूद थे। उन्होंने रोकते हुए कहा तस्वीर का कमसुख़न(कम बोलनेवाला) क्या? फिर कम बोलनेवाला किसी की तक़रीर(वार्त्ता या संवाद) सुनकर बोल उठे तो कमाल क्या है? इस पहले मिस्रे को यूँ पढ़ो– 'जिस बेज़बाँ से मैं करूँ तक़रीर बोल उठे।' तो कमाल हो। यानी शेर यूँ हो–

जिस बेज़बाँ से मैं करूँ तक़रीर बोल उठे
मुझमें कमाल वो है कि तस्वीर बोल उठे

बेज़बान को बुलवाना कमाल है, कमसुख़न(कम बोलनेवाले/वाली) को बुलवाना क्या कमाल है? कुछ आलिमों के नज़्दीक ये फ़र्ज़ी या मनगढंत बातें हैं, हुआ करें, लेकिन इन और ऐसे दूसरे वाक़िआत से ज़बानो-बयान की जो बारीकियाँ सामने आती हैं, महत्त्व तो उनका है और उनसे इन्कार मुम्किन नहीं है।

इन ज़िम्नी(गौण), लेकिन कारआमद बातों के बाद बाक़ायदा दी गयी इस्लाहों पर नज़र करते हैं–

उम्र शायद न करे आज वफ़ा
सामना है शबे-तन्हाई का हाली

'गालिब' ने दूसरे मिस्रे (पंक्ति) को बदला–

उम्र शायद न करे आज वफ़ा
काटना है शबे-तन्हाई का

शब काटना, रात काटना, मुहाविरा है। 'सामना' से 'काटना' बेह्तर मालूम होता है, कि 'सामना' में बराबरी का भाव है 'काटना' में मज्बूरी है।

फ़स्ले-गुल में मुझे कहता है कि गुलशन से निकल
ऐसी बेपर की उड़ाता न था सय्याद कभी वज़ीर अली 'सबा'

ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश' ने पहला मिस्रा(पंक्ति) बदला–

पर कतरकर मुझे कहता है कि गुलशन से निकल
ऐसी बेपर की उड़ाता न था सय्याद कभी

एक साथ दो मुहावरों के इस्तेमाल ने शेर का सौन्दर्य बढ़ा दिया। 'पर कतरना' और 'बेपर की उड़ाना'। परिन्दा गुलशन से निकलेगा तो उड़ना चाहेगा, लेकिन कतरे हुए परों से उड़ेगा कैसे? बेपर की उड़ाना' बेतुकी बात करना भी है।

किसी ने बात न पूछी मलाल लेके चले
लहद में साथ हम अपना कमाल लेके चले वज़ीर अली 'सबा'

'आतिश' ने पहला मिस्रा यूँ बना दिया—

कभी न क़द्र हुई ये मलाल लेके चले
लहद में साथ हम अपना कमाल लेके चले

'बात न पूछना' मुहाविरा है— बेपरवाई करना, खोज ख़बर न लेना— के अर्थ में, यानी 'सबा' ज़ियादा ग़लत नहीं थे, लेकिन कमाल और क़द्र में एक ख़ास निस्बत है। इस्लाह इसी का नाम है।

देखने के लिए आया है, ज़माना उसको
इक तमाशा है मुसाफ़िर भी सफ़र से पहले अहसन मारहरवी

मिर्ज़ा दाग़ ने पहले मिस्रे में 'आया' को 'आता' बना दिया—

देखने के लिए आता है ज़माना उसको
इक तमाशा है मुसाफ़िर भी सफ़र से पहले

'आया' में तख़्सीस(एकनिष्ठता) थी 'आता' में तामीम(व्याप्ति) है। अब ये सभी तरह के मुसाफ़िरों के लिए है।

नहीं उठतीं, नहीं मिलतीं, नहीं खुलतीं आँखें
शर्म है, नश्शा है, या नींद तुम्हें आयी है अहसन मारहरवी

मिर्ज़ा दाग़ ने पहले मिस्रे की तर्तीब(क्रम) बदल दी—

नहीं खुलतीं, नहीं उठतीं, नहीं मिलतीं आँखें
शर्म है, नश्शा है, या नींद तुम्हें आयी है

पहले शेर में तर्तीब नहीं थी। उस्ताद ने खुलना, उठना, मिलना में सही तर्तीब पैदा कर दी है।

किसी दिन बेख़ुदी में जा पड़े थे उनके सीने पर
बस इतनी-सी ख़ता पर हाथ कुचले उसने पत्थर से अहसन

मिर्ज़ा दाग़ ने पहले मिस्रे में मामूली तब्दीली की—

किसी दिन बेख़ुदी में जा पड़ा था उसके सीने पर
बस इतनी-सी ख़ता पर हाथ कुचला उसने पत्थर से

बेख़ुदी(बेख़बरी) में दोनों हाथ नहीं पड़ते एक हाथ पड़ सकता है। 'अहसन' मौलाना-मिज़ाज थे और 'दाग़' तो ताक़ थे।

बैठ जाता हूँ जहाँ छाँव घनी होती है
कुछ अजब चीज़ ग़रीबुल्वतनी होती है हफ़ीज़ जौनपुरी

अमीर मीनाई ने दूसरे मिस्रे में तर्मीम(परिवर्तन) की—

बैठ जाता हूँ जहाँ छाँव घनी होती है
हाय क्या चीज़ ग़रीबुल्वतनी होती है

दूसरे मिस्रे के पहले लफ़्ज़ 'हाय' से अफ़्सोस और बेकसी की जो कैफ़ीयत उजागर होती है वो 'कुछ अजब चीज़' में कहाँ। ग़ज़ल में क़ौल से कैफ़ीयत ज़ियादा अहम है, ये इस्लाह इसका प्रमाण है।

सुना करते थे हम कि पहलू में दिल है
जो चीरा तो इक क़तरए-ख़ूँ न निकला आतिश

'आतिश' के उस्ताद 'मुस्हफ़ी' ने पहले मिस्रे को ऐसा बना दिया कि पूरा शेर ज़बानज़दे-ख़ासो-आम हो गया है—

बड़ा शोर सुनते थे पहलू में दिल है
जो चीरा तो इक क़तरए-ख़ूँ न निकला

'बड़ा शोर सुनते थे' में व्यंग्य(तंज़) की तेज़ी द्रष्टव्य है। इस्लाह ने बता दिया कि पहले मिस्रे में 'हम' ग़ैरज़रूरी है।

मीर मूनिस का मत्ला(ग़ज़ल का वो पहला शेर जो हमरदीफ़ो-क़ाफ़िया हो) था—

न तड़पने की इजाज़त है न फ़रियाद की है
यूँ ही मर जाऊँ ये मर्ज़ी मेरे सय्याद की है

मीर अनीस ने दूसरे मिस्रे को इस्लाह देकर वाक़िअे के मुताबिक़ बना दिया—

न तड़पने की इजाज़त है न फ़रियाद की है
घुट के मर जाऊँ ये मर्ज़ी मिरे सय्याद की है

'यूँ ही मर जाऊँ' की जगह 'घुट के मर जाऊँ' से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन और ऊपर की बातों— न तड़पने की, न फ़रियाद की इजाज़त— का इस्लाह से औचित्य पैदा हो गया।

आह हमसे दोस्तों ने दुश्मनी की इस क़दर
दुश्मनों की दुश्मनी का सब गिला जाता रहा ज़ाहिद

अमीर मीनाई ने शेर ऐसा बना दिया कि आज ये शेर ज़र्ब-उल-मसल(लोकोक्ति) हो गया है। इस्लाह के बाद शेर यूँ बना—

दोस्तों ने दोस्त बनकर दुश्मनी की इस क़दर
दुश्मनों की दुश्मनी का सब गिला जाता रहा

दोस्तनुमा दुश्मनों पर इससे बेह्तर शेर कम ही होंगे।

बहुत क़रीब मगर है बहार का मौसम
कली-कली मेरे दामन की मुस्कराती है बरहम

अमीर मीनाई ने पहले मिस्रे में 'मगर' को शायद से बदल दिया—

बहुत क़रीब है शायद बहार का मौसम
कली-कली मेरे दामन की मुस्कराती है

ये सही है कि फ़ारसी में 'मगर' का मतलब 'शायद' होता है और यहाँ 'मगर' 'शायद' ही का मतलब दे रहा था, लेकिन जो बात 'शायद' से पैदा हुई है उसका जवाब नहीं। 'मगर' शब्द सुनते ही 'लेकिन' ध्यान में आता है। 'शायद' की तरफ़ ध्यान बाद में जाता है। उस्ताद ने ये सुक़्म निकाल दिया और पहले मिस्रे में जो कैफ़ीयत पैदा हुई है उसे दूसरे मिस्रे से तक़्वियत पहुँची है।

उठो मेरे सिरहाने से मेरा मरना न देखो तुम
ख़ुदा के वास्ते हट जाओ मेरा दम निकलता है सीमाब अकबराबादी

'दाग़' ने पहले मिस्रे को बदलकर यूँ बना दिया—

मेरी बालीं से उठ जाओ मेरा मरना न देखो तुम
ख़ुदा के वास्ते हट जाओ मेरा दम निकलता है

'सीमाब' बताते हैं कि—'' 'उठो मेरे सिरहाने से', इस जुम्ले में एक क़िस्म का हुक्म था। जिसकी वज्ह से दूसरे मिस्रे में 'ख़ुदा के वास्ते' कलमा-ए-मिन्नतो-इल्तिज़ा(प्रार्थना-विनय की बात) की तर्दीद(खण्डन) हो जाती है।''

दिल में तसव्वुरे-रुख़े-ज़ेबा लिये हुए
बैठा हूँ ज़ौक़ो-शौक़ की दुनिया लिये हुए अहमद रंगूली

वहशत कलकत्तवी ने दूसरा मिस्रा बदल दिया—

दिल में तसव्वुरे-रुख़े-ज़ेबा लिये हुए
बैठा हूँ इश्तियाक़ की दुनिया लिये हुए

तसव्वुरे-रुख़े-ज़ेबा यानी प्रेमिका के सुन्दर चेह्रे की कल्पना, लिये बैठा हूँ— ये पहला मिस्रा था, दूसरे मिस्रे में 'ज़ौक़ो-शौक़'(रुचि और रसिकता) का बयान था, जो मुनासिब तो था, लेकिन इश्तियाक़(उत्कण्ठा, लालसा) लफ़्ज़ बहुत बेहतर और हस्बे-हाल है। इश्तियाक़ और तसव्वुर में भी एक निस्बत है। फिर ग़ज़ल ही नहीं शायरी भी कम-से-कम लफ़्ज़ों में अधिक-से-अधिक कहने का नाम है। 'ज़ौक़ो-शौक़' दो लफ़्ज़ के बजाय एक लफ़्ज़ 'इश्तियाक़' रखा और मानी में जो बारीकी पैदा हुई वो अलग। माशूक़ की ग़ैरमौजूदगी या वस्ल की आशा में 'इश्तियाक़' ज़ियादा अच्छा मालूम होता है।

वसीम बरेलवी
5, जमुनाप्रसाद रोड
बरेली (उ. प्र.)
मो.- 09412485477

वसीम बरेलवी आज उर्दू-शायरी के एक युग का प्रतिनिधित्व करनेवाला नाम बन चुके हैं। इन्होंने जदीदियत का दौर भी देखा और माबाद जदीदियत का भी देख रहे हैं। इन सारे उतार-चढ़ाव के बावजूद वसीम साहब की शायरी में निजता सदैव बरक़रार रही। अपने लहजे और अपनी विशिष्टता को मुसल्सल सँभाले रखना और वो भी तब जब मुशायरों से जुड़ाव भी कम नहीं रहा। इस काफ़ी पेचीदा और मुश्किल काम में वसीम साहब ने सन्तुलन साध लिया है।

इनकी आत्मकथा का ये तीसरा भाग हमें भारत-विभाजन के आस-पास समाज में अदब के बदलते स्वरूप से परिचित कराता है। उर्दू-भाषा और उर्दू-अदब किस तरह विद्यालयों में एक स्वाभाविक तत्त्व के रूप में उपस्थित रहता था तथा हमारे संस्कार का एक हिस्सा बन जाता था, इसकी सूचना भी इस लेख से मिलती है। काश! वैसी परम्पराएँ आज भी होतीं। ये लेख अगले अंक में भी जारी रहेगा।

वसीम बरेलवी

कुछ इस तरह जिया हूँ-३

(गतांक से आगे...) दरअस्ल ख़ता उनकी भी नहीं थी, जब कलाम भेजा ही नहीं जायेगा तो कोई मुदीर(सम्पादक) छापेगा क्या?

इसी तरह डॉ. मुहम्मद हुसैन साहब ने 'असरी अदब' में कुछ दिन पहले मेआरी अश्आर का ज़िक्र करते हुए ये शाए किया—

जलते हुए मकानों के मंज़र बतायेंगे
क्या बात थी जो रूठ गये रौशनी से हम

और इस शेर के आगे नामालूम लिखकर कुछ तारीफ़ी जुम्ले तह्रीर किये। मैंने उनको तफ़्सीली ख़त लिखा कि— सन् 1971-72 में अमृतसर टी. वी. के उद्घाटन-समारोह के मौक़े पर देहली टी. वी. ने अभी तक का आख़िरी तरही मुशायरा आयोजित किया था, जिसमें 'मोमिन' की तरह दी गयी थी— 'हँसते जो देखते हैं किसी को किसी से हम'।

उस मुशायरे में फ़िराक़, जगन्नाथ 'आज़ाद', निदा फ़ाज़ली और दीगर नामवर शायर मौजूद थे। इसी तरही मुशायरे में मैंने ये ग़ज़ल कही थी, जिसका ये शेर आपने 'असरी अदब' में छापा था। अगले अंक में नामालूम की जगह मेरा नाम तो आ गया, मगर मुझे ये अन्दाज़ा लगाने में बड़ी फ़त्हमन्दी का एहसास हुआ कि मेरे अश्आर के बारे में अगर ये ना मालूम हो कि ये मेरे हैं तो शायद तन्क़ीदनिगारों(आलोचकों) की बड़ी मुश्किल आसान हो जाये। हाय क्या ज़ालिम शय है ये मक़्बूलियत भी, जो अगर एक तरफ़ बिना शर्त मुहब्बतों को जन्म देती है तो दूसरी तरफ़ अकारण द्वेष पैदा किये बग़ैर नहीं रहती। इधर-उधर की बातें होने के साथ-साथ ये भी ज़रूरी है कि अपने अन्दर झाँककर देखा जाये और अपनी ज़िन्दगी के उन तमाम पहलुओं पर भी रौशनी डाली जाये, जिन्होंने इब्तिदा से फ़िक्र-ओ-नज़र की आबयारी में कोई रोल अदा किया, या ज़िन्दगी के तसल्सुल को सन्तुलन प्रदान किया।

दरअस्ल मेरा ताल्लुक़ एक ज़मींदार घराने से है। ज़मींदारी ननिहाल में भी थी और दधियाल में भी। कहा जाता है मेरे परदादा मुरादाबाद के सबसे बड़े जागीरदार थे। 384 गाँव के मालिक। एक रिवायत ये भी है कि एक ज़माने में ट्रेन मुरादाबाद से काशीपुर तक उनकी ज़मींदारी में चलती थी। परदादा मुंशी मज़्हर हुसैन की पाँच औलादें थीं— चार बेटे एक बेटी, बेटी यानी मेरी सगी दादी। दादी को वो सबसे ज़ियादा चाहते थे। इसीलिए बेटों से ज़ियादा हिस्सा बेटी को दिया, जो मुंतक़िल(transfer) हुआ मेरे वालिद शाहिद हसन 'नसीम मुरादाबादी' मरहूम को, मगर उनकी सादा मिज़ाजी इतनी बड़ी जायदाद की बहुत दिन अधिकारी न हो पायी और उनकी शादी से पहले ही वो मुरादाबाद के श्यामसुन्दर लाल एडवोकेट को लिख दी गयी। उनके बिगड़े हुए हालात को

बेह्तर बनाने की ग़रज़ से उनकी शादी बरेली के रईस शेख़ इन्तिज़ाम उल्लाह साहब की छोटी साहबज़ादी, यानी मेरी वालिदा मोहतरमा रफ़ीआ बेगम से कर दी गयी। शेख़ इन्तिज़ाम उल्लाह साहब बड़े मुआम्लाफ़हम और बड़े रसा इंसान थे। उन्होंने कोशिश की कि अपने दामाद की गयी हुई जायदाद को अदालती काररवाई के ज़रिऐ वापस दिलाकर हक़दार तक हक़ पहुँचा सकें, मगर हालात बनने के बजाय बिगड़े और नतीजा ये निकला कि मुझ तक आते-आते ये पैमाना ख़ाली हो गया। ननिहाल ही में आँख खोली, वालिद साहब की हैसियत ख़ाना-दामाद की-सी रही। पाँच बेटे-बेटियों की माँ यानी मेरी वालिदा साहिबा की साबितक़दमी ख़ुदा की इबादत-गुज़ारी और ग़ैरमामूली मुआम्लाफ़हमी(समस्याएँ समझने-सुलझाने का गुण), इज़्ज़त और वक़ार की ज़िन्दगी जीने का दर्स देती रही और हम लोग जो एक बड़ी विरासत के उत्तराधिकारी होने के बावजूद ननिहाल के रहम-ओ-करम पर ज़िन्दगी गुज़ारने के लिए मज्बूर हुए, ज़ियादा दीन-हीन होने से बचे रहे।

यद्यपि कि वालिदा साहिबा हमारे नाना की बड़ी चहेती बेटी थीं, मगर ज़मींदार ख़ानदानों के जो हक़ और हिस्से के उलझाव होते हैं उनसे जूझती हुईं हम लोगों की तालीम-ओ-तरबियत में लगी रहीं। ज़िन्दगी के बेशुमार उतार-चढ़ाव ज़िन्दगी को अपने अन्दाज़ से ढालते रहे और हम लोग वालिदा साहिबा के आदर्शों के साये में निर्धनता के बावजूद अपने आपको सँभाले रहे। कहा जाता है कि मैं बड़े कुहरामी माहौल में पैदा हुआ। मेरी पैदाइश से 20 दिन पहले मेरे सगे मामू को ज़ह्र दिया गया था। ख़्वाह मौत का ग़म पूरे ख़ानदान के ऊपर असरअन्दाज़ था। इसी आलम में मैंने जन्म लिया। शऊर की आँख खुली तो उस सरपरस्ती से ख़ुद को मह्रूम पाया जो पहले दिन से बच्चों को ख़ुदएतमादी की दौलत देती है। वालिद साहब सीधे-सादे मिज़ाज के इंसान थे। दुनिया के छल-प्रपंच से नावाक़िफ़, दुनियादारी के तरीक़ों से नाबलद। लिहाज़ा एक कामयाब इंसान की हैसियत से न जी सके और न हम लोगों के लिए राहें उस्तुवार कर सके। माँ की शफ़्क़तें, बुर्दबारी, ख़ुदापरस्ती और उनकी अज़्मते-किरदार मश्अले-हिदायत बनी, सफ़र जारी रहा। तालीमी और तरबियती मरहले तय करते हुए मैंने शुरू ही से क्लासों में इम्तियाज़ हासिल किया और बचपन से मिली हुई मह्रूमियों को अपनी क़ुव्वते-अमल और ख़ुदादाद सलाहियतों(ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा) से कम करने की न सिर्फ़ कोशिश की, बल्कि चाहा कि अपनी दुनिया आप बना सकूँ। तक़्सीमे-वतन के बाद जो ख़ून की होली खेली गयी, उसने ज़ेहनो-दिल को बुरी तरह से मुतास्सिर किया। सगी खाला देहली में थीं, 20 दिन उनकी कोई ख़बर नहीं मिली। बचपन की आँखों ने देखा कि घर अज़ाख़ाना बना हुआ था। पूरे घर का सामान आँगन में इस उम्मीद पर ले आया गया कि कब बिके और कब यहाँ से कूच हो, मगर रफ़्ता-रफ़्ता हालात अनुकूल होना शुरू हुए। खाला आग और ख़ून का दरिया पार करके कराची जा पहुँचीं। हम सब यहीं रह पड़े । ये ज़रूर हुआ कि बरेली की फ़ज़ा कुछ कम ठीक थी और रामपुर निस्बतन् मह्फ़ूज़ था, तो ननिहाल का पूरा ख़ानदान वहाँ चला गया। हम लोग भी चले गये।

मुर्तज़ा स्कूल रामपुर में दाख़िला छठे क्लास में हुआ। शायरी का शौक़ ख़मीर में था। यहाँ बच्चों की शेरी मह्फ़िलें सजतीं, उनमें शिरकत होती। मुर्तज़ा स्कूल रामपुर में कोई भी आयोजन होता तो क़िराअत(क़ुरआन-पाठ) के लिए एक लड़का था मुख़्तार अहमद, उसे चुना जाता और नात पढ़ने के लिए मुझे। यहाँ इन दिनों बैतबाज़ी का चलन बहुत था। स्कूल के सालाना जलसे में बैतबाज़ी का मुक़ाबला बड़ी अहमियत रखता था। आज भी याद है कि पूरे स्कूल को दो हिस्सों में तक़्सीम कर दिया गया। चौथे, पाँचवें, छठे के मुख़्तलिफ़ सेक्शन की अलग टीमें थीं और सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं के मुख़्तलिफ़ सेक्शन की अलग टीमें। सीनियर ग्रुप के तलबा में IX B की टीम फ़त्ह हासिल करके आयी और इधर VI C, जिसमें मैं था, इस टीम ने फ़त्ह का झंडा लहराया। सालाना आयोजन का सबसे पुरकशिश मंज़र ये था कि IX B और VI C एक दूसरे के मुक़ाबिल

थे। IX में महमूद आलम और मसऊद आलम दो भाई थे, जो खेलों में भी इसी तरह इन्आम बटोरते जिस तरह पढ़ाई आदि में फर्स्ट-सेकण्ड आने के इनाम हासिल करते। इधर हमारी टीम में हमारे साथी मिर्ज़ा करके एक साहब थे, बड़ी तैयारी की इस मुक़ाबले में हिस्सा लेने के लिए। आज सोचता हूँ तो समझ में नहीं आता कि ये सब कैसे हुआ। बड़े-बड़े शोअरा के दीवान से बैतबाज़ी में काम आनेवाले अश्आर निकाले गये। याद किये गये, ताकि मौक़ा पर मद्दे-मुक़ाबिल का दन्दाशिकन जवाब दिया जा सके। इधर महमूद आलम और मसऊद आलम भी पूरी तैयारियों पर थे। मुर्तज़ा स्कूल का लम्बा-चौड़ा अहाता स्टूडेण्ट और मेह्मानों से भरा। डाइस पर प्रिंसिपल और अन्य आमंत्रित-गण के साथ रामपुर स्टेट के वज़ीरे-तालीम(शिक्षा-मंत्री) देवकीनन्दन जी भी मौजूद थे, जो बैतबाज़ी के इस मुक़ाबले को न सिर्फ़ देखने आये थे, बल्कि सदारत भी कर रहे थे। दोनों तरफ़ से 5-5 छात्रों की टीमें थीं। मुक़ाबला शुरू हुआ। बैतबाज़ी के मतलब के बेशुमार अश्आर एक तरफ़ से दाग़े गये, तो दूसरी तरफ़ से जवाबी हमले हुए। कुछ शेर आज भी ज़ेह्न में मह्फ़ूज़ हैं—

सुबूते-ग़मे-दिल अयाँ हो गया है
मेरी चश्म की ख़ूँफ़िशानी के बाएस

सालिते-अग़्यार बने यार अबस
मुझसे करता है तू तक्रार अबस

तूर पर गये मूसा
होश थे बरक़रार ग़लत

एक घण्टा शेरी जंग जारी रही। मैं चूँकि उम्र और बिसात में सबसे छोटा था, इसलिए मुझे कुर्सी पर खड़े होकर शेर पढ़ने की इजाज़त थी, ताकि पूरे अहाता में बैठा हुआ छात्रों का मजमा मुझे भी देख सके। सद्रे-मह्फ़िल देवकीनन्दन बड़ी दिलचस्पी से ये मुक़ाबला देख रहे थे। जैसा कि आमतौर पर होता बैतबाज़ी के मुक़ाबले में ऐसा मक़ाम भी आता है जब मुक़ाबला करनेवालों का ख़ज़ाना ख़ाली होने लगता है और 'अलिफ़' और 'ये' से शुरू होनेवाले अश्आर की भी कमी पड़ने लगती है। चुनांचे उस दिन भी ऐसा ही हुआ। मेरे हमनवा मिर्ज़ा पहले ही ख़ाली हो चुके थे। मैं अकेला महमूद आलम और मसऊद आलम दोनों भाइयों की तेज़ी और तर्रारी के मुक़ाबिल था कि 'मीम' से शुरू होनेवाले शेर पर हारी मानने की नौबत आ गयी। आख़िरी लम्हे एक शेर याद आ ही गया—

मेरा घोड़ा, मेरा नेज़ा, ये मालो-ज़र भी हाज़िर है
जो तेरे काम आ जाये, तो मेरा सर भी हाज़िर है

और इत्तिफ़ाक़ ऐसा था कि एक दिन पहले चोट लगी थी। सर पर पट्टी बँधी हुई थी। दूसरे मिस्रे ने श्रोताओं को कुछ अलग अन्दाज़ में मुतास्सिर किया और देर तक तालियाँ बजती रहीं। यूँ तो नवीं के मुक़ाबले छठे क्लास की टीम से श्रोताओं को हमदर्दियाँ कुछ ज़ियादा ही थीं। सद्रे-महफिल देवकीनन्दन अपनी जगह से उठे और ये कहकर मुझे गोद में उठा लिया कि मुक़ाबला यहीं ख़त्म होता है। छठे क्लास की टीम चैम्पियन क़रार दी जाती है।

शायरी का शौक़ मेरे वजूद का हिस्सा था, लिहाज़ा उस्ताद शोअरा का कलाम शुरू ही से ज़ेरे-मुताला रहा। तबीअत कुछ इतनी दर्दमन्दियों में ढली हुई थी कि मुतास्सिर मैं उसी कलाम से होता जिसमें हक़ीक़तपसन्दी का रंग झलकता। तालीमी सिल्सिला रामपुर से बरेली ले आया। ब्वॉयज़ क्रिश्चियन स्कूल से हाईस्कूल का इम्तिहान दिया और फिर इस्लामिया कॉलेज बरेली से इण्टर और फिर बरेली कालेज से बी. ए. और एम. ए. किया। जिस क्लास में भी रहा कुछ इम्तियाज़ी

हैसियत ज़रूर रही। असातिज़ा की शफ़्क़तों से नवाज़ा गया। हल्क़ा-ए-अहबाब में हमेशा पज़ीराई हुई और कुछ बनने के शौक़ ने कभी निचला नहीं बैठने दिया। इण्टर में पढ़ता था तो प्रिंसिपल की तरफ़ से हुक्म हुआ कि दो लड़कों को गवर्नमेण्ट रज़ा कॉलेज में ऑल इण्डिया यूनिवर्सिटी तक़्रीरी मुक़ाबला(debate competition) में इस्लामिया कॉलेज की नुमाइन्दगी के लिए जाना है। इस टीम में मुझे भी शामिल किया गया। वहाँ अलीगढ़, देहली और हिन्दुस्तान की दीगर नामवर यूनिवर्सिटी की टीमें भी आ रही थीं। डॉ. आबिद उल्लाह ग़ाज़ी, जो बाद में अलीगढ़ के सद्र भी हुए, अलीगढ़ की नुमाइन्दगी कर रहे थे। बड़े अच्छे-अच्छे प्रतियोगी मुख़्तलिफ़ तालीमी दर्सगाहों से आये हुए थे। हम तो सिर्फ़ इलाक़ाई क़ुरबत(स्थानीय निकटता) की वज्ह से इण्टर कालेज से भेजे गये थ, मगर इस्लामिया कालेज की टीम को निर्धारित विषय की स्तरीयता पर जब सेकण्ड प्राइज़ से नवाज़ा गया तो ये सभी के लिए हैरतअंगेज़ फ़ख़्र की बात हुई।

बरेली कॉलेज मेरी आला तालीमी की मरकज़ है। ये कॉलेज हिन्दुस्तान के छः पुराने कॉलेजों में से एक है, जिसकी अपनी एक परम्परा है, अपना एक किरदार है और 1837 ई. से क़ायमशुदा ये कालेज बड़े-बड़े ज़ेहनियों की तर्बियत का ज़िम्मेदार रहा है। इसकी इमारत ख़ूबसूरततरीन कॉलेजों की इमारतों में से एक है। यहीं से उस वक़्त मैंने एम. ए. (उर्दू) से करने का फ़ैसला किया। चारों तरफ़ उर्दू के नाम पर भविष्य अन्धकारमय जबकि अँग्रेज़ी अदब का एक अच्छा तालिबे-इल्म होने के नाते न सिर्फ़ मैंने इंग्लिश लिट्रेचर में नुमायाँ नम्बर हासिल किये, बल्कि मेरे इंग्लिश लिट्रेचर के उस्ताद देवीचरन शर्मा साहब ने बुलाकर ताक़ीदन कहा था कि तुम अँग्रेजी से एम. ए. करो। अँग्रेज़ी से एम.ए.करनेवालों की ज़ेब में नौकरियाँ पड़ी रहती हैं। मुस्तक़्बिल रौशन रहेगा, मगर उर्दू से ही एम. ए. करने का फ़ैसला किया और आगरा यूनिवर्सिटी में पहला मक़ाम हासिल किया, क्योंकि उन दिनों बरेली कॉलेज आगरा यूनिवर्सिटी के तहत आता था। उर्दू से एम. ए. तो कर लिया अब सवाल ये था कि क्या किया जाय। ख़्वाबो-हक़ीक़त की जंग शुरू हुई, मगर जल्द ही हिन्द इण्टर कॉलेज सम्भल में नौकरी मिल गयी। सम्भल का साल-सवा साल का क़याम मेरी शायराना ज़िन्दगी के लिए बड़ा कारगर साबित हुआ। छोटी जगह थी, बहुत जल्द मक़्बूलियत हासिल हो गयी। लोगों ने पलकों पर बिठाया और गली-गली, घर-घर मेरी शायरी के चर्चे होने लगे। तारीख़ी बस्ती होने की वज्ह से शायरी के रवायती अन्दाज़ के परस्तार यहाँ बड़ी तादाद में थे। इल्मी-ओ-अदबी बहसों के लिए यहाँ की फ़ज़ा बहुत साज़गार थी, बल्कि अगर यूँ कहा जाय तो ग़लत न होगा कि ऐसी ही नीम-ख़्वाबीदा बस्तियों में शेरो-अदब की सच्ची ख़िदमत के मौक़े मिलते हैं और शेरी-ओ-अदबी क़द्रों को फ़रोग़ होता है। बहसें कभी ज़ाती होती हैं, कभी नज़रयाती, मगर इन बहसों का फ़ायदा ये होता है कि इनसे बहस करनेवाले ज़ेह्नों को दिशा भी मिलती है। सरसी के उस्ताद शोअरा में 'सैयद सरसवी' साहब और सम्भल के मोतबर शोअरा में 'मुअज्जिज़ सम्भली' साहब मुझे ख़ास तौर पर याद हैं, जिनके साथ बैठकर, जिनके साथ महफ़िलों में शिरकत करके मैंने फ़िक्रे-शेर के आदाब सीखे। सम्भल के क़याम के दौरान 'बाग़ सम्भली' ज़िक्र में बहुत रहे और 'दाग़ स्कूल' के नुमाइन्दा शायर की हैसियत से उनका ज़िक्र अक्सर असातिज़ा करते थे। सैयद सरसवी साहब बड़े आलिमो-फ़ाजिल थे। क़सीदागोई में बहुत निपुण थे। उनके ताल्लुक़ से सरसी की महफ़िलों में जाने का मौक़ा मिला और बहुत-से क़सीदा भी कहे। सम्भल आने से पहले मेरी शायरी दो ऐसे मक़ामात से गुज़री जिनका ज़िक्र किया जाना ज़रूरी है। बी. ए. में पढ़ता था तो जब शायरी की थोड़ी-सी सुद-बुद हुई, वालिद साहब हज़रत नसीम मुरादाबादी मरहूम को कलाम दिखाया, मगर फिर बाक़ायदा शागिर्दी उस्तादे-मोहरम मुन्तक़िम हैदरी की अख़्तियार की । इन्होंने ज़िन्दगी की आला क़द्रों से परिचित ही नहीं कराया, बल्कि शुरू ही से तबीयत को शायरी के आला मेआरों से वाक़िफ़ कराने की कोशिश की, अच्छी-बुरी शायरी की तमीज़ बतायी।

सत्ही शायरी जिसमें कितनी भी कोशिश क्यों न हो, उससे दूर रहने की बरतने का तालीम दी और आला शायरी की पहचान बतायी। उन दिनों बरेली में शायरी का शौक़ उरूज पर था। यहाँ उस्तादों में हज़रत इबरत सिद्दीक़ी मरहूम, हज़रत ज़मीर बरेलवी मरहूम, शौक़ बरेलवी और हज़रत मुन्तक़िम हैदरी मौजूद थे। शहर के नुमायाँ शोअरा में आमिल बरेलवी, हामिद, कलीम, हिलाल साबिरी, मरहूम डॉ. माताप्रसाद 'ज़ेब', साक़िब बरेलवी, दयानारायन टण्डन 'दया', कैफ़ वज्दानी, रसा बरेलवी, अनवर चुग़ताई, फ़ैयाज़ शम्सी और शकील निज़ामी, बद्र शम्सी और नौजवानों में क़ैसर बदायुँनी, अस्लम बरेलवी, शायर बरेलवी, नज़्मी बरेलवी, शबनम बरेलवी, शादाँ बरेलवी, राजे बरेलवी वग़ैरह। कई अंजुमनें थीं। एक स्कूल 'इबरत' साहब का था, दूसरा ज़मीर बरेलवी का, तीसरा पुराने शहर में शौक़ बरेलवी का तो चौथा मुन्तक़िम हैदरी का— इदारा-ए-हैदरी; जिसका नाम अल्लामा हैदर देहलवी के नाम से मुनासबत रखता था। चूँकि मुन्तक़िम हैदरी हैदर देहलवी के ख़ास शागिर्दों में से एक थे।

इदारा-ए-हैदरी की नशिस्तें और तरही मुशायरे सैथल में होते थे, जो बरेली से अठारह किलोमीटर दूर सादात की बस्ती है और जिसमें इल्मी-ओ-अदबी ज़ौक़ रखनेवालों की ख़ासी तादाद हुआ करती थी। इदारा-ए-हैदरी के मुंस्लिक लोगों में मेरे अलावा सरीर सैथली वग़ैरह थे। सैथल के दीगर नुमायाँ शोअरा में हमीद सैथली थे जो जो माहिर तारीख़गो थे। इनके अलावा क़लम सैथली, सौलत उफ़ुक़ सैथली और शमीम सैथली थे जो बराबर उन शेरी महफ़िलों में शरीक होते थे और कामयाब शोअरा में शुमार होते थे। बरेली में मेरी वाबस्तगी उस गहवारा-ए-अदब से थी, जो शकील निज़ामी के दम से चलता था और ज़िसकी महफ़िलों में ज़ियादातर मुख़्तलिफ़ अंजुमनों के आज़ाद तबीयत के लोग शिरकत किया करते। इसमें मेरे अलावा कैफ़ी वज्दानी, आमिल बरेलवी, अनवर चुग़ताई, हिलाल साबिरी, तमीज़ बरेलवी, तस्नीम बरेलवी वग़ैरह शरीक हुआ करते। उन नशिस्तों में रिफ़अत मुहम्मद ख़ाँ और डॉ. लतीफ़ अदीब के शरीके-महफ़िल होने से वक़ार बढ़ जाता और इन हज़रात की पज़ीराई से शायर के क़द का तअय्युन(निर्धारण) हुआ करता। यही वो दिन थे जब शायरी का ज़ौक़ परवान चढ़ा। उस्तादों को तवज्जो से सुना। समकालीन लोगों के अन्दाज़े-फ़िक्र से रौशनी हासिल की और दिन-रात इस फ़िक्र में रहता कि किस तरह अपनी पहचान बने। जो शोअरा ज़ेरे-मुताला रहे उनमें 'मीर' के बाद 'फ़ानी' बदायुँनी ने मुतवज्जो किया। 'फ़ानी' का दुखा-दुखा लहजा मेरी रूह तक को निहाल कर देता—

मआले-सोज़े-ग़महाए-निहानी देखते जाओ
भड़क उट्ठी है शम्अ ज़िन्दगानी देखते जाओ

इक मुअम्मा है, समझने का न समझाने का
ज़िन्दगी काहे को है, ख़्वाब है दीवाने का

हर नफ़स उम्रे-गुज़िश्ता की है मैयत 'फ़ानी'
ज़िन्दगी नाम है मरमर के जिये जाने का

अँग्रेज़ी अदब भी ज़ेरे-मुताला था। हार्डी के नावले साथ ही न छोड़ते— 'मेयर ऑफ़ कैस्टर' का एक-एक किरदार अपने संवादों के साथ मेरी तन्हाइयों से बातचीत करता। अजीब-अजीब रुख़ से मेरी सोचों को तहदारियाँ अता करता। शेक्सपीयर के ड्रामों के आन्तरिक अर्थ मेरी सोच को नये अर्थ और बसीरत के हज़ारों अध्याय खोलकर रख देते। कीट्स की नामुरादियाँ उभरने का हौसला देतीं। मिल्टन की बुर्दबारी वो शम्अें रौशन करती जैसे जन्नते-गुमशुदा मिल गयी हो। हिन्दी-साहित्य

की बड़ी हस्तियों में महादेवी वर्मा तो घर–आँगन की लगतीं। जयशंकर प्रसाद छूते तो, मगर फ़ासले से, इसलिए उनकी बहुत–से रचनाओं तक पहुँच ही नहीं हो पाती। 'दिनकर' जी इसलिए बड़े लगते कि उन्हें सब बड़ा कहते हैं, मगर उनके फ़न के साथ रच–बस जाने को जी नहीं करता। निराला अलबत्ता कभी बड़े दर्दमन्द दिखायी देते, कभी दर्दे–लादवा। ये सबकुछ इस तरह मुझमें शामिल होने लगे कि मुझे एहसास तक न हुआ। मैं किसी को आइडियल बनाकर उसके साथ न चल सका। बस ये लगा कि राह तो देखते हैं, मगर रास्ता मुझे ख़ुद ही बनाना है। चुनांचे ये छोटी–छोटी महफ़िलें जो बीच–बीच में बरपा होती रहतीं, किसी–न–किसी बहाने कुछ ऐसा अता करतीं कि जो आगे चलकर बहुत काम आया। इन सोह्बतों से जहाँ फ़िक्रे–शेर को चमक मिली वहीं कॉलेज की तालीम के दौरान डॉ. दास, डॉ. मिश्रा और डॉ. देवीचरन शर्मा जैसे अँग्रेज़ी की सेहतबख़्श इल्मी लियाक़तों के साये में ज़ेह्न को ख़ूब–से–ख़ूबतर की तलाश में सरगर्दां करने का हुनर आता गया। शायरी जो मुझे विरसे में मिली थी और मेरी दर्दमन्द भी थी, अपने–आपको टटोलने और क़ाबिले–क़ुबूल अंजाम में बाहर लाने का बेह्तरीन ज़रिआ थी, मेरी नस–नस में समाती गयी।

नौकरी के सिल्सिले में बरेली से रुख़्सत होने और सम्भल तक पहुँचने की वो शाम मुझे आज भी याद है, जिसके दुख को मैं ताज़िन्दगी फ़रामोश ही नहीं कर सकता। घर, अज़ीज़–अक़ारिब और अपने माँ–बाप के छूटने का शदीद एहसास पूरे रास्ते मेरा हमसफ़र रहा। ऐसा लगता कि जैसे सबकुछ छूटा जा रहा हो, मगर हालात के जब्र ने इस तरह के जज़्बाती हादसों से लड़ने का हुनर भी सिखाया और किसी भी अजनबी माहौल में अपनी दुनिया बनाने का सलीक़ा भी। जिससे मिलता खुले दिल से मिलता। जल्दी ही अजनबीयते ताल्लुक़ में तब्दील हो जातीं। बेगानगियाँ अपनाइयतों का रूप धारण कर लेतीं और मैं मौजे–हवादिस से हँसता–खेलता चला जाता, मगर अन्दर के ख़ालीपन का ज़ख़्म जब मरहम चाहता तो शायरी ही मदद को आती, जैसा कि बता चुका हूँ। सम्भल में रहकर ज़िन्दगी नये तज्रबों से परिचय हुआ। दुनिया और दुनियादारी को देखने और बरतने का मौक़ा मिला और ये सबकुछ शेरी तज्रबों में ढलता रहा। उस दौर के कुछ अश्आर—

ये इब्तिदाए–शब, ये लरज़ती हुई सी लौ
अय शम्अ! क्या तुझे भी उम्मीदे–सहर नहीं

उठाया जाम तो साक़ी ने गुल किये वो चराग़
जो पीनेवालों से जलकर सहर का ज़िक्र करें

बमस्लेहत भी अगर दिल की आग कम होगी
तो इक तरह से ये तौहीने–रस्मे–ग़म होगी
बसी हुई है मेरी ग़मनवाज़ नज़रों में
वो रात जिसमें चराग़ों की उम्र कम होगी

'वसीम' जी चुके मरने का एहतमाम करें
बहुत चला ये फ़साना चलो तमाम करें

उन्नीस–बीस बरस की उम्र की शायरी का ये रंग शायर और उसकी शायरी के बारे में बहुत कुछ बता सकने में ख़ुद कफ़ील है। आर्थिक परेशानियाँ जज़्बाती शिकस्त और इंसानी रिश्तों की बेहिसी के दबाव में जीता हुआ ज़ेह्न जब अपने–आपको ख़ुलूस के नाम पर तन्हा खड़ा देखता तो ये ज़िन्दगी और इस ज़िन्दगी के जुम्लाए–मज़ाहिर इसके सामने बेशुमार सवाल खड़े कर देते। उन्हीं सवालों की बाज़गश्त शायरी को तरह–तरह से अपने इज़्हार का ज़रिआ बनाती—

न सोचकर कभी अंजामे-गुमरही मैंने
इस एक उम्र में तेरी तलाश की मैंने

सम्भल का क़याम तो बारह-चौदह महीने से ज़ियादा नहीं रहा, मगर सम्भल के क़याम ने मेरे शायर को बाहर लाने का मौक़ा दिया और बेपनाह मक़्बूलियत ने लफ़्ज़ों में छुपी हुई बेपनाह मानवीयतों को शायरी के ज़रीअे अपने पैरों पर खड़ा होने की ताक़त बख़्शी। जिस तरह सम्भल की नौकरी ख़ुदएतमादी और ज़ाती सलाहियतों के बल पर मिली थी, उसी तरह देहली यूनिवर्सिटी के हिन्दू कॉलेज के उर्दू-विभाग में तैनाती हुई। यहाँ ख़्वाजा अहमद फ़ारूक़ी जैसे मुख़्लिस अदीबों की सरपरस्ती में काम करने का मौक़ा मिला। भगवतीस्वरूप जैसे सच्चे और रिवायती क़द्रों के अलमबरदार साहिबे-इल्मो-फ़न की रिफ़ाक़तें मिलीं। डॉ. क़मर रईस, डॉ. गोपीचन्द नारंग से मुलाक़ातें रहीं और फिर इन सबसे बढ़कर आनन्दमोहन ज़ुत्शी 'गुलज़ार देहलवी' की सजायी हुई 'तामीरे-अदब' के जलसों के मार्फ़त साग़र निज़ामी, रिफ़अत सरोश, रविश सिद्दीक़ी, फ़ुर्क़त काकोरवी, बिस्मिल सादी, कुँवर महेन्दर सिंह बेदी, गोपाल मित्तल, बैरिस्टर नूरुद्दीन, सैयद हामिद, शमीम करहानी, अनवर साबिरी, जोश मल्सियानी, जगन्नाथ आज़ाद, अर्श मल्सियानी, गोपीनाथ अम्न और न जाने कितने अदब के मोतबर साहिबे-क़लम और शोअरा-ए-मोहतरम के साथ उठने-बैठने और इल्मो-अदब के दर्स हासिल करने का मौक़ा मिला। **(शेष अगले अंक में....)**

(मूल उर्दू से लिप्यन्तरण : नूरुल एस. अंसारी)

अकरम नक़्क़ाश
व्हाइट हाउस, न्यू बैंक कालोनी,
बिलालाबाद, गुलबर्गा-585104 (कर्नाटक)
मो.- 09845390893

अकरम नक़्क़ाश उर्दू-अदब में अपने गम्भीर हस्तक्षेप के लिए जाने जाते हैं। इन्होंने उर्दू-अदब के वास्तविक साहित्यिक विकास को गहराई से जाना-समझा है तथा समकालीन उर्दू-आलोचना को लोगों तक पहुँचाने का कार्य भी किया है। इन्होंने उर्दू-अदब से जुड़े कई महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के इण्टरव्यू लिये हैं और ऐसे प्रश्नों को उठाया है जो व्यक्तिगत जिज्ञासा से लेकर सम्पूर्ण समकालीन समस्याओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सुप्रसिद्ध आलोचक गोपीचन्द नारंग का ये साक्षात्कार कुछ वर्ष पूर्व लिया गया था, मगर इसके सवाल और जवाब अपनी दीर्घकालिक प्रासंगिकता रखते हैं। गोपीचन्द नारंग आलोचकीय कार्यों के साथ-साथ उर्दू-भाषा और आलोचना में सर्वथा नवीन विचारों और विमर्शों के प्रवर्त्तन एवं स्थापन के लिए भी जाने जाते हैं। इतनी वयोवृद्ध अवस्था में भी नारंग साहब अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा से उर्दू-आलोचना और अदब में इजाफ़ा कर रहे हैं। हाल ही में ग़ालिब और भारतीय संस्कृति के अर्न्तसम्बन्धों पर साहित्य अकादमी से प्रकाशित इनकी पुस्तक ग़ालिब-आलोचना की सुदीर्घ परम्परा में एक नयी उपलब्धि है।

अकरम नक़्क़ाश

गोपीचन्द नारंग से एक गुफ़्तगू

अकरम नक़्क़ाश— ऐसी मिसालें बहुत कम हैं कि कोई नक़्क़ाद, मुहक़्क़िक या अदीब तख़्लीक़ के रास्ते अदब में दाख़िल न हुआ हो। आप ने भी शुरूआत अफ़्साने से की, फिर आपकी तर्जीहात (प्राथमिकताएँ) बदलने के कारण क्या हैं?

गोपीचन्द नारंग— अदब में कौन किस रास्ते से दाख़िल होता है इसका कोई बँधा-टका उसूल नहीं। हर तरह की मिसालें हैं। कुछ हालात ऐसे होते हैं कि आपका रुख़ मोड़ देते हैं। फिर अन्दर की आग का मुआम्ला भी है। इंसान जितना मुख़्तार है उतना मज्बूर भी है। तबीअत का कोई रुजहान बनते-बनते बनता है। तख़्लीकियत भी अपनी जगह दुरुस्त और मशक़्क़तो-रियाज़त भी अपनी ठीक, लेकिन अदब में मशक़्क़तो-रियाज़त से चमक आती है। मैंने कहीं लिखा है कि जब मैंने दिल्ली कॉलेज में दाख़िला लिया तो उस्ताद ने नसीहत की कि अगर एकेडमिक दुनिया में काम करना और अपनी हैसियत को मनवाना है तो फिर तन्क़ीद पर तवज्जो कीजिए। कुछ लोगों की आदत होती है हर नाँद में मुँह मारते हैं, ये मुझे कभी पसन्द नहीं था। एम. ए. के ज़माने में मैंने एक मज़्मून लिखा 'अकबर इलाहाबादी हिन्दोस्तान और पाकिस्तान में' जिसे 'निगार' लखनऊ को अशाएत (प्रकाशन) के लिए भेजा। 'निगार' उस ज़माने में सफ़े-अव्वल का पर्चा था, इसमें फ़क़त जाने-माने नाम ही नज़र आया करते थे। नियाज़ फ़तेहपुरी ने मज़्मून फ़ौरन् शाए कर दिया। मज़्मून छपा तो वाह- वाह हुई। उसी ज़माने में मैंने अपने दोस्त ख़्वाजा अहमद फ़ारूक़ी के साथ मिलकर क़दीम दिल्ली कॉलेज नम्बर एडिट किया और उसके लिए भी मज़ामीन लिखे, जिनकी पज़ीराई हुई। मेरे चाहने न चाहने को उतना दख़्ल नहीं था। शुरू की कुछ कामयाबियाँ होती हैं, कुछ हालात का तक़ाज़ा इंसान की राह का निर्धारण करता है। मेरा उसूल है जिस मैदान में काम करो, बेहतरीन काम करो मेरे अन्दर का शायर मरा नहीं है। आज भी वो मेरे साथ है। शायर होना बरहक़ है तो शायरी का पारखी और रसिक होना भी बरहक़ है। अस्ल चीज़ अदबी हिस्सीयत(साहित्यिक संवेदनशीलता) है। अदबी हैसियत तख़्लीक़(सृजन) का जौहर है तो तन्क़ीद(आलोचना) का भी। तन्क़ीद भी वही अपनी हैसियत मनवा सकता है जो अदबी हैसियत के जौहर से प्राप्त हो। ये न हो तो तब्सिरे-तक्रीज़े लिखते रहने से कुछ नहीं होता।

अकरम नक़्क़ाश— आज का अदब एक तरह की यकसानियत का शिकार नज़र आता है। रचनाधर्मिता, मौलिकता और विशिष्टता से युक्त फ़नकारों की तलाश आज आसान नहीं है, जबकि कुछ वर्षों पहले ही इन विशेषताओं के क़लमकारों की एक कहकशाँ नज़र आती है। तख़्लीक़ी वुफ़ूर (Intensity of creation), तज्रबा-पसन्दी की कमी इसका सबब है या कुछ और?

गोपीचन्द नारंग— अदब शायद यकसानियत का शिकार नहीं अलबत्ता तख़्लीक़ी वुफ़ूर की कमी है। बड़े फ़नकार एक-एक करके उठ चुके हैं। सफ़ें की सफ़ें ख़ाली हो गयी हैं, लेकिन अदब में फ़क़त चोटियाँ ही नहीं होतीं, वादियाँ भी होती हैं। एक ग़ालिब के बाद दूसरा ग़ालिब आये, शेक्सपियर के बाद दूसरा शेक्सपियर आये ज़रूरी नहीं। अदब की तारीख़ उत्थान-पतन का खेल है। अलबत्ता ये पूछा जा सकता है कि आज हम पतन में अपेक्षाकृत ज़ियादा क्यों हैं। सामने की वज्ह ग़ालिबन् ये है कि जदीदियत, जो ज़ेह्नों को आज़ाद करनेवाला और पाठ (text) की सृजनात्मकता के प्रति आग्रह रखनेवाला उच्चकोटि की बौद्धिकता का रुज्हान था, जो ख़लीलुर्रहमान आज़मी, महमूद अयाज़ के ज़माने तक सही पनपता रहा, लेकिन बाद में जब इसको संकुचित और संकीर्ण करके इसमें एक तरह का पूर्वाग्रह दाख़िल किया गया और बेगानगीयत, ज़ातपरस्ती, निरर्थकता और समाजी मसाएल से बेताल्लुक़ी और मेकैनिकी बनावटीपन पर ज़ोर दिया गया तो इसमें दो राय नहीं कि तख़्लीक़ वुफ़ूर को नुक़्सान पहुँचा। अदब न सिर्फ़ क़ारी से कट गया, इसमें ज़िन्दगी की हरारत भी कम हो गयी है। इस बेताल्लुक़ी के कुछ प्रभाव अब भी बाक़ी है। इधर ये भी है कि अदब जब-जब इस अँधेरी गली से निकलना चाहता है या तख़्लीक़ी वफ़ूर को कोई लहर आती है तो जमकर मुख़ालफ़त की जाती है और उल्टे-सीधे राग अलापे जाते हैं, लेकिन ये हालत हमेशा रहने वाली नहीं। अदब का अपना एक अन्दरूनी हरकियाती निज़ाम(mechanism) होता है। एक-न-एक दिन वो मंज़िल आती है जब अदब अपने ज़वाल(पतन) की फ़ज़ा से ख़ुद संघर्ष करता है और इससे बाहर निकल आता है।

अकरम नक़्क़ाश— पिछले 70-80 बरसों के अदब पर नज़र की जाय तो तहरीकातो-रुज्हानात और अदबी हंगामों की कई दुनियाएँ नज़र आती हैं, अदबी हंगामाख़ेज़ी आज के अदब का मुक़द्दर क्यों नहीं बन पा रही?

गोपीचन्द नारंग— आपके इस सवाल का कुछ जवाब ऊपर आ चुका है। अदबी हंगामाख़ेज़ी आज भी है, लेकिन उसकी नौईयत(प्रकार) दूसरी है। सामने की बात है कि तरक़्क़ीपसन्दी रवायती अदब की ज़द में आयी थी और दोनों में टकराव तीव्र था। फिर जदीदियत तरक़्क़ीपसंद की ज़द में आयी और दोनों में टकराव भी शदीद था। ख़ूब-ख़ूब एक दूसरे को भला-बुरा कहा गया। अब माबाद-जदीदियत(उत्तर-आधुनिकता) जदीदियत(आधुनिकता) के उस तरह से ख़िलाफ़ नहीं है, बल्कि जदीदियत के बाद का फ़ल्सफ़ा है और उसकी कोताहियों से बचने और अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं की आग्रही होने और फ़न के तक़ाज़ों को पूरा करते हुए व्यापक आइडियोलॉजी, समाजी मसाएल और ज़िन्दगी की हमाहमी से जुड़ने का फ़ल्सफ़ा है। इसमें मानी की तकसीरियत (बहुअर्थिता) को लेकर या रद्दे-तश्कील(format में बदलाव) को लेकर या आइडियोलॉजी को लेकर गहरी बहसें उठायी गयी हैं जो विशुद्ध ज्ञानात्मक और दर्शनपूर्ण हैं। संकुचित जदीदियत ने जब प्रौढ़ता-परिपक्वता के नाम पर रिआयते-लफ़्ज़ी, मुनासिबते-लफ़्ज़ी और अश्काल-पसन्दी का चक्कर चलाया तो लोगों ने गहरे जमालियाती(सौन्दर्यशास्त्रीय) और आइडियालॉजिकल मसाएल पर ग़ौर करना बन्द कर दिया। जब भी थोड़ा-बहुत नज़रयाती टकराव पैदा होता है तो बजाय नज़रयाती बहसें उठाने या नज़रयाती इल्मी सत्ह पर उनका जवाब देने की कोशिश करने के अश्रफ़ अली थानवी को आगे ला दिया जाता है या कुछ बहस करके मसाएल का रुख़ ज़ातियात की तरफ़ मोड़ दिया जाता है और न सिर्फ़ मुग़लज़ात(गालियों) से नवाज़ा जाता है, बल्कि किरदारकशी (चरित्र-हनन) से भी गुरेज़ नहीं किया जाता। कोई ये नहीं सोचता कि इससे अदब का फ़ायदा हो रहा है कि नुक़्सान। इससे बढ़कर ये कि फ़िरकावारियत, जिसकी तरक़्क़ीपसन्द ने जमकर

मुख़ालिफ़त की थी और जदीदियत का सिरे से मस्अला ही नहीं थी, इसलिए कि सिवाय ज़ात के कोई समाजी मसला अदबी मसला नहीं था। फलस्वरूप अब खुल्लमखुल्ला फ़िरकावारियत को बढ़ावा दिया जाता है। इस बात से शायद ही किसी को एतराज़ हो कि ये छपा हुआ फ़ासिज़्म है जो नज़रयाती इख़्तिलाफ़(वैचारिक मतभेद) के नाम पर परवरिश पा रहा है और उर्दू जो रौशन-जमीरी, ज़ेह्नी बेदारी, रवादारी-ओ-एतहाद-ओ- आस्ती की ज़बान थी, इसमें ज़ह्र फैलाया जा रहा है। उर्दू में एकदम अँधेरा हुआ है ऐसा भी नहीं, कुछ लोगों को इस अफ़सोसनाक की सूरते-हाल का एहसास है और उन्होंने इसके ख़िलाफ़ आवाज़ भी उठायी है।

अकरम नक़्क़ाश— ज़िन्दा अदीबों पर इज़हारे-ख़याल और उनके नाम गिनवाने से अक्सर नक़्क़ाद भी गुरेज़ करते नज़र आते हैं, जबकि ये बात आलोचना के क्षेत्र में न्यायसंगत भी नहीं और अदब बहरहाल कोई शख़्सी मुआम्ला नहीं है, फिर इस एहतियात और गुरेज़ को क्या नाम दिया जाय?

गोपीचंद नारंग— ऐसा नहीं है कि ज़िन्दा अदीबों पर इज़हारे-ख़याल बिल्कुल नहीं किया जाता, लेकिन जितना होना चाहिए उतना नहीं है। इसकी वज्ह भी वही बेगानगी और अपने खोल में बन्द होना है। रिसाले मौजूद हैं, बड़े अदीबों की सरपरस्ती भी उन्हें हासिल है, लेकिन अगर प्राथमिकताएँ ही निम्नस्तरीय होंगी तो उच्चस्तरीय काम कैसे होगा। इस वक़्त उर्दू-अदब महदूद नौईयत के vested interests का निशाना बना हुआ है और ज़िन्दा अदीबों को अगर शिकायत है तो बेजा भी नहीं, लेकिन पतन के ज़माने में एक और प्रवृत्ति जो विकसित होती है वो है कि हर ज़िन्दा अदीब में समझता है कि वही खुलासा-ए-कायनात है। इस वज्ह से भी आलोचना से शिकायत आम हो गयी है। आले अहमद सुरूर, एहतेशाम हुसैन, मुहम्मद हसन अस्करी के ज़माने में जो तन्क़ीद की साख़ थी, जदीदियत के ज़माने में उसको नुक़्सान पहुँचा है। अतार्किकता दावेदारी, ख़ुदपसन्दी तन्क़ीद में आम है। इसके ज़िम्मेदार कौन लोग हैं, बताने की ज़रूरत नहीं। पाकिस्तान में तन्क़ीद का हाल और भी पतला है। बहरहाल वहाँ थोड़ा-बहुत तख़्लीक़ी वुफ़ूर तो है, क्योंकि वहाँ का उर्दू-अदब वहाँ के समाजी, सियासी मसाएल से अलग-थलग नहीं रहा। यूनिवर्सिटियाँ बढ़ रही हैं, कॉलेज बढ़ रहे हैं, तालिबे-इल्म बढ़ रहे हैं, लेकिन स्प्रिट ऑफ इन्क्वायरी की वहाँ शदीद कमी है। वहाँ की वज्हें दूसरी हैं, यहाँ की वज्हें दूसरी हैं, जिनकी तरफ़ कुछ इशारा ऊपर किया भी गया।

अकरम नक़्क़ाश— अहदे-हाज़िर में शायरी, फ़िक्शन और तन्क़ीद के अहम कौन हैं?

गोपीचन्द नारंग— ये सवाल आपने बहुत से लोगों से पूछा है। मैं समझता हूँ कि उन्हीं को पढ़ लेना काफ़ी है। किसी इंटरव्यू में नाम शुमारी अच्छी बात भी नहीं। मेरे भी कुछ पसन्दीदा नाम हैं सलाहियत-ओ-क़ाबिलियत के आधार पर, न कि गिरोहबन्दी-ओ-तरफ़दारी के आधार पर। मेरी प्राथमिकताएँ आपको मेरी तह्रीरों और मज़ामीन(लेखों-आलेखों) में मिल जायेगी।

अकरम नक़्क़ाश— रिसाला 'सौग़ात' और मुदीर(सम्पादक) महमूद अयाज़ के बारे में आपकी राय क्या है?

गोपीचन्द नारंग— महमूह अयाज़ की मैं दिल से क़द्र करता हूँ, जदीदियत के हर अव्वल दस्ते में इनका नाम हमेशा ख़लीलुर्रहमान आज़मी के साथ लेता हूँ। वो शायर थे, लेकिन बहैसियत अदबी सम्पादक की हैसियत ज़ियादा रासिख़(मज़्बूत) है। 'सौग़ात' के नज़्म नम्बर को कोई फ़रामोश नहीं

कर सकता। उनके मिज़ाज में ख़ुदपसन्दी थी, लेकिन अदबी मुआम्लात में वे डंडी(डाँड़ी) नहीं मारते थे। उन्होंने बुज़ुर्गों का भी एहतराम किया और नौजवानों के लिए भी दरवाज़े खोले रखे। बहुत देर तक सेहतमन्द जदीदियत को उस्तुवार करने में 'सौग़ात' का तारीख़ी किरदार रहा है। 'सौग़ात' का नाम उस दौर के 'सबा', 'सवेरा', 'सातरंग', 'हमारी ज़बान' के साथ लिया जायेगा, बल्कि इन सबसे पहले लिया जायेगा। बीच में वो अदब से किनाराकश हो गये थे और किसी क़दर क़दामत पसन्द(पुरानी चीज़ो को पसन्द करनेवाला) भी। जिस ज़माने में मैं थ्योरी पर काम कर रहा था मेरे इनसे कुछ नज़रयाती इख़्तिलाफ़ात(वैचारिक मतभेद) भी थे। इनके कुछ बहुत लम्बे ख़त मेरे पास हैं। मेरा आग्रह था कि किसी चीज़ से इख़्तिलाफ़(निषेध, परहेज़) करने से पहले उसको समझना भी बहुत ज़रूरी है। थ्योरी की बहुत-सी इन्तिहापसन्दाना(अतिवादिता) बातों की गहराई में उतरकर उन्हें समझने की कोशिश करना चाहिए, तभी आप उन्हें रद्द कर सकते हैं। उनकी बड़ाई है कि इसके बावजूद उन्होंने मेरी बहुत-सी बहसअंगेज़ चीज़ों को प्रकाशित किया। 'सौग़ात' के उस दूसरे दौर में अन्तत: उन्हें ख़ुद एहसास होने लगा कि जिस जदीदियत की लोग हिमायत करते रहे हैं, नौक्लासिकीयत के नाम पर वो ऐसी जगह पहुँचा दी गयी है, जहाँ उसके पास रिआयते-लफ़्ज़ी, मुनासिबते-लफ़्ज़ी या हैयती कारीगरी की बहसों के सिवा कुछ नहीं रह गया। तह्ज़ीबी जड़ों के ग़ायब होने या ख़त्म का भी उनको एहसास था। परिणामस्वरूप ज़िन्दगी के मसाएल से जुड़ने की ज़रूरत और समाजी बेताल्लुक़ी के उमूमी मंज़रनामे से ख़ुद उनको तक्लीफ़ होने लगी थी। सुबूत के तौर पर उनके वो ख़त पढ़ें जो उन्होंने शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी के रवैयों के ख़िलाफ़ मुग़्नी तबस्सुम को लिखे और उनसे इस तरह की निरी हैयती-ओ-मेकैनिकी हैयतपरस्ती के ख़िलाफ़ मज़्मून लिखने की फ़रमाइश की जो बाद में 'सौग़ात' में छपा, लेकिन ये वो ज़माना है जब नुक़्सान पहुँच चुका था, जिसके ख़िलाफ़ बाकर मेंहदी और वारिस अल्वी जैसे लोग बातें तो बहुत बनाते थे, लेकिन किसी ने जमकर नहीं लिखा। थ्योरी के विमर्शों ने जब आन्तरिक अर्थवत्ता, सांस्कृतिकता और आइडियोलॉजिकल मान्यताओं को पूरी तरह मज़्बूत कर दिया तो सब सकते में आ गये। इसलिए कि सब अपनी-अपनी जगह सज्जादानशीं हो चुके थे। अफ़सोस कि महमूद अयाज़ की सेहत ख़राब रहने लगी और फिर वो चल बसे। काश वो ज़िन्दा रहते तो अपनी आँखों से देखते कि जो मान्यताएँ अपनी दूरदृष्टि की वज्ह से उन्होंने अख़्तियार किया था, वो उर्दू-भाषा और साहित्य को इस राह पर बढ़ाने के लिए ज़रूरी था।

अकरम नक़्क़ाश— आप हमारे अहद की बेहद अहम अदबी शख़्सियत हैं। आपका शुमार जदीदियत के रहनुमाओं में होता रहा है। आपने जदीद शायरों जैसे— शहरयार, मुहम्मद अल्वी, बानी, साक़ी फ़ारूक़ी, इफ़्तिख़ार आरिफ़ पर मज़ामीन लिखे। जदीद अफ़्सानों के तज्रबे और फ़िक्शन पर आपकी तन्क़ीद अपनी मिसाल आप है, इस सबके बावजूद जदीदियत से ख़ुद को अलग करने के कारण क्या हैं?

गोपीचन्द नारंग— आपको मालूम है कि मैंने जमकर जदीदियत का साथ दिया, लेकिन फ़ैशन-गुज़ीदा या बनावटी संकुचित और संकीर्ण आधुनिकता से मेरी राह हमेशा अलग थी। मैं उर्दू की तह्ज़ीबी जड़ों पर 1960 से पहले काम कर चुका था। फिर मैं उस्लूबियात(शैली-विज्ञान) की तरफ़ निकल गया। ये वो ज़माना है जब फ़िक्शन और शायरी पर मेरे कुछ मज़ामीन को इतनी स्वीकार्यता मिली कि ख़ुद मुझे हैरत होती थी। अभी मैं अपनी पुरानी तह्रीरें एडिट कर रहा था तो मेरी नज़र से एक नोट गुज़रा 'कुछ जदीद अफ़्साने के बारे में' जो 1969 में 'शबख़ून' में प्रकाशित हुआ था। ये वो ज़माना है जब मैं विस्कांस में था। इसमें मैंने जदीद अफ़्साने के शायरी की ज़बान

बन जाने पर एतराज़ किया है और दो टूक लफ़्ज़ों में एक सिम्पोज़िम के ग्रुप को जिनमें शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी, बलराज कोमल, महमूद हाशमी शरीक थे, कहा था कि शायरी का क्षेत्र अलग है और अफ़साने का क्षेत्र अलग। अफ़साने की शेरज़दगी इसके लिए ख़त्रा है और अगर अफ़साना ज़िन्दगी की जड़ों और सामाजिक अर्थवत्ता से बेताल्लुक़ी अख़्तियार करता है तो सूरते-हाल हास्यास्पद हो जायेगी। याद रहे कि मैं ख़ुद सुरेन्द्र प्रकाश और बलराज मेंज़ा की अच्छी अलामती(प्रतीकात्मक) कहानियों का प्रशंसक रहा हूँ, लेकिन जब शायरी की ज़बान में लिखा हुआ अफ़साना ख़ुद अफ़साना का मुँह चिढ़ाने लगा तो मैंने 1980 वाले जामिआ के फ़िक्शन सेमिनार में इसकी मुख़ालफ़त में खुलकर आवाज़ उठायी। मेरी किताब 'उर्दू अफ़साना : रवायत और मसाएल' के आख़िरी मज़्मून का उन्वान है। 'अलामती-ओ-तज्रीदी अफ़साना : मुक़ालिदीन के लिए एक लम्हा-ए-फ़िक्रिया', गोया ये एक स्पष्ट गुरेज़ था। इसके बाद जैसे-जैसे मैं थ्योरी की गहराई में उतरता गया तो मसाएल की गिरहें खुलती गयीं कि संकुचित-सीमित जदीदियत रौशन-ज़मीरी के प्रोजेक्ट से विरक्त या इससे पलायन कर रही है। मेरे विरोधियों को भी इसका एहसास था कि अब उनकी पोज़ीशन Tenable नहीं रही। मुझे न मुख़ालिफ़त की परवाह है न साज़िशों की। इतना मालूम है कि मैं निष्पक्ष हूँ और जो बात कह रहा हूँ वो ईमानदारी, गहरे मुताले, भुगते हुए तज्रबे के आधार पर कह रहा हूँ और मैं नहीं, सारी दुनिया इसको जानती है कि जिस जदीदियत को ख़ानाज़ाद किया गया उसका दुनिया में कहीं वजूद नहीं। कुछ पुराने नामलेवा हैं जो लकीर पीटे जा रहे हैं। ऐसे नामलेवा तो रवायती तरक़्क़ीपसन्दी के भी हैं। कौन कह सकता था कि सच्चा मार्क्सवाद वो होगा जो पार्टी फार्मूलों के साथ नहीं, बल्कि व्यापक आइडियोलॉजिकल सरोकारों के साथ आयेगा। हिन्दोस्तान जैसे सामासिक(composite) समाज में न तो कभी फ़िरक़ा-रवायत कामयाब हो सकती है न फ़ासिज्म। मैं अब 80 से अधिक उम्र का हूँ, उर्दू में क़दामतपसन्दी के नाम पर चोर दरवाज़े से जिस फ़ासिज़्म को दाख़िल करने की कोशिश की जा रही है, मेरी आवाज़ कुछ क्षीण और दुर्बल सही, मैं इन लोगों के निशाने पर सही, लेकिन मैं फ़ासिज़्म या फ़िरक़ा-रवायत को बढ़ावा देनेवाली क़द्रों से समझौता नहीं कर सकता।

अकरम नक़्क़ाश— तरक़्क़ीपसन्दों की अपनी दावेदारी और मेनिफ़ेस्टो-आधारित अदब के प्रति आग्रह जदीदियत(आधुनिकता) के उत्थान का आधार था। जदीदियत की फ़ैशनपरस्ती और हद से बढ़ी हुई तज्रबापसन्दी भी एतदाल(मध्यमार्ग) की राह पर लग गयी थी। ऐसी सूरत में माबाद जदीदियत(उत्तर-आधुनिकता) के ऐलान-ओ-इत्लाक़ का अदबी जवाज़(औचित्य) क्या है? जदीदियत और माबाद जदीदियत में ख़ते-फ़ासिल(सीमा-रेखा) क्या है?

गोपीचन्द नारंग— एतदाल की भी ख़ूब रही। हर चीज़ की एक बुनियाद होती है। सोचना चाहिए Paradigm(मानदण्ड) क्यों बदला? जदीदियत और माबाद जदीदियत में जो ख़ते-फ़ासिल है उसका भी कुछ अन्दाज़ा ऊपर की बहस से हो गया होगा। यूँ भी ये बहस इस प्रकार की है कि दो-चार जुम्लों में इसके बारे में कुछ कहा जाय तो एक तरह का over smplification और reductionism है। जिन लोगों को दिलचस्पी है वो मेरी किताबें 'माबाद जदीदियत पर मुकालमा' और 'जदीदियत के बाद' में मेरे कुछ मज़ामीन में देख सकते हैं। यूँ भी मैं पूछना चाहूँगा कि जदीदियत के ज़माने में तह्ज़ीब का कोई नाम नहीं लेता था। तह्ज़ीबी क़द्र, तारीख़ी क़द्र, समाजी क़द्र सब बाहरी क़द्रें थीं और आन्तरिक क़द्रें संरचनात्मक क़द्रें थी, लेकिन आज जदीदियत के ग़ाली अलमबरदार तह्ज़ीबी और तारीख़ी डिस्कोर्स(विमर्श) क़ायम करते नज़र आते हैं क्यों? बेशक बयानिया कहीं नहीं गया था और कहानीपन भी कहीं नहीं गया था, लेकिन क्या कोई इससे इंकार कर सकता है

कि सिक्काबन्द जदीदियत के ज़माने में जदीद अफ़साने का जो नज़रयाती फ्रेमवर्क बनाया गया उसमें साफ़ तौर पर कहानीपन और किरदारनिगारी को ख़ारिज किया गया। क्या आज का बयानिया कहानीपन की तरफ़ झुका हुआ नज़र नहीं आता। वही लोग जो पहले जिन बातों का खण्डन करते थे क्या आज अपनी उन्हीं बातों पर क़ायम हैं? क्या तह्ज़ीबी, तारीख़ी डिसकोर्स फ़िक्शन में वापस नहीं आ चुका? पोस्ट Post colonial युग के नाम पर जिस तहज़ीबी विशेषता के प्रति आग्रही दिखायी देता है वो जदीदियत के ज़माने में कहाँ थी? इन सबसे बढ़कर ये है कि जिस तरह मत्न (text) की तक्सीरियत(बहुपाठ्यता या बहुअर्थिता) और अर्थगत आधारों या सन्दर्भों के प्रति आग्रह दिखायी देता है और ख़ूब व्याख्याएँ लिखी जाती हैं, क्या जदीदियत के एकार्थी वातावरण में उनका कोई औचित्य था? इसके अलावा तरक़्क़ीपसन्द के रूमानी लेखकीय उद्देश्यों को तो रद्द किया गया, लेकिन मत्न को ख़ुदमुख़्तार क़रार देकर जिस तरह पाठक को ख़ारिज किया गया, क्या आज अर्थ-उत्पत्तियों में पाठ के अलावा पाठक की भूमिका का औचित्य उपस्थित नहीं हो गया? बातें यूँ हैं। इनके अलावा दो बड़े मस्अले तानीसियत(स्त्री-विमर्श) और दलित विमर्श के भी हैं। हमारे यहाँ दल न सही, फ़िरक़ा, बिरादरी, अक़ीदा, मस्लक के नाम पर फ़ासिज़्म तो है। ये सब समाजी सरोकार की बहसों की के प्रमुख आयाम हैं। क्या ये हक़ीक़त नहीं कि ये सारा डिस्कोर्स माबाद जदीदियत की शक्ल में सेण्टर स्टेज हो चुका है। मज़े की बात ये है कि वही लोग जो नज़रयाती तौर पर सिक्काबन्द जदीदियत के इमाम थे, वो सब आँखें बन्द करके पर उन बातों को तस्लीम करते हैं और ढिठाई ये भी कि ये मिथ्या दावेदार ये कहते हैं कि कोई तब्दीली नहीं आयी गोया brain wash करते हैं और नौजवानों को गुमराह करते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि ये एक तरह की अदबी बद्दियानती है।

अकरम नक़्क़ाश– पिछले पचास-साठ साला अदब की हावी सिन्फ़(विधा) कौन-सी है। इसके कारण क्या हैं और इसको गतिशील बनानेवाले कौन हैं?

गोपीचन्द नारंग– वैसे देखा जाय तो इक्कीसवीं सदी फ़िक्शन की सदी है। ये भी हक़ीक़त है कि पिछली सदी में फ़िक्शन ख़ास तौर से अफ़्साने ने न सिर्फ़ अपनी हैसियत को मनवाया, बल्कि फ़न्नी बुलन्दियों को भी छू लिया। फिर ये भी हक़ीक़त है कि उर्दू में शायरी हावी है और शायरी में ग़ज़ल को मरकज़ी हैसियत हासिल है। क़सीदा, मस्नवी, मुस्तज़ाद, सब पसे-पुश्त चले गये। पिछली सदी में नज़्म की हैयतों(formats) यानी नज़्मे-मुअर्रा और नज़्मे-आज़ाद ने अपनी हैसियत को मनवाया और मक़्बूलियत (स्वीकार्यता) के दर्जात (सोपान) भी तय किये। ग़ज़ल पर सख़्त-से-सख़्त ऐतराज़ात किये गये, लेकिन जैसा कि मैंने अपनी किताब में दिखाया है कि ग़ज़ल की जड़ें हमारे मख़्लूत तहज़ीबी(सामासिक संस्कृति) अवामिल में दूर-दूर तक पैवस्त हैं। ग़ज़ल हिन्दुस्तानी मनोविज्ञान में रची-बसी है। ग़जल का जीनियस हिन्दोस्तानी ज़ेह्न-ओ-मिज़ाज को रास आता है और नाक़ाबिले-बयान जमालियाती आसूदगी(सौन्दर्यात्मक आनन्द) बख़्शता है। वो हमारी रूहानी Heritage का भी हिस्सा है। इसीलिए बावजूद सख़्त-से-सख़्त ऐतराज़ात के ग़ज़ल का विकास हुआ और इसको नयी मक़्बूलियत हासिल हुई और ग़ज़ल ने नये आइडियालॉजिकल-ओ-सक़ाफ़ती-ओ-समाजी तक़ाज़ों का साथ दिया। लेकिन मैं ये कहे बग़ैर नहीं रह सकता कि इधर रवायती और रस्मी ग़ज़ल की यल्ग़ार है। ग़ज़ल में अपनी आवाज़ पाना जितना मुश्किल है, रस्मी और रवायती शेर कहना उतना ही आसान है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि अच्छी और ताज़ाकार आवाज़ें मौजूद हैं, लेकिन रवायती शायरी वबा की तरह फैली हुई है। नज़्म पर जैसी और जितनी तवज्जो होना चाहिए, नहीं है। ये ख़ुशआईन्द नहीं। नज़्म के अच्छे शायर आज के मंज़रनामे

पर बहुत कम हैं।

अकरम नक़्क़ाश– मज़हर इमाम साहब ने कहीं लिखा है कि प्रोफेसर नारंग दोस्ती के सिलसिले में जितने खरे हैं दुश्मनी के मामले में भी उतने ही पक्के हैं, बड़े एहतमाम और जतन के साथ यूँ दुश्मनी करते हैं जैसे शतरंज खेल रहे हों। इस बयान में कहाँ तक सच्चाई है?

गोपीचन्द नारंग– ये जुम्ला मज़हर इमाम का नहीं, आपको ग़लतफ़हमी हुई है। ये जुम्ला मुज्तबा हुसैन का है और उन्होंने हँसी-मज़ाक़ में लिखा है। हँसी-मज़ाक़ को संजीदगी से लेना अदबफ़हमी के ख़िलाफ़ है। अलबत्ता मस्लेहतबीनी(स्वार्थपरता) मेरे मिज़ाज का हिस्सा नहीं और सच बात मैं डंके की चोट पर कहता हूँ। जिस तरह की लोग साज़िशें करते रहते हैं उसमें मिज़ाजन् दूर हूँ। मैं सबको दोस्त समझता हूँ जब तक कि कोई ख़ुद ये साबित न कर दे कि वो दोस्ती के क़ाबिल नहीं। मज़हर इमाम ने तो ये लिखा है– ''दो नक़्क़ादों की दोस्ती फ़ित्री(स्वाभाविक) नहीं, फिर भी उन दोनों (नारंग और फ़ारूक़ी) की दोस्ती मिसाली रही है।'' आप कोई वाक़िआ ऐसा पेश नहीं कर सकते जब मैंने किसी से दुश्मनी में पहल की हो। ख़ुदा का शुक्र है उसने महसूद(ईर्ष्या का पात्र) बनाया है किसी का हासिद(ईष्यालु) नहीं बनाया। लोग अपनी-अपनी मफ़ादपरस्ती रश्को-रक़ाबत या छुपी हुई फ़िरकावारियत के आधार पर साज़िश करते हैं तो भी मैं किसी का जवाब ज़ाती सत्ह पर नहीं देता। नज़रयाती इख़्तिलाफ़ (वैचारिक मतभेद) हो तो ज़रूर अपनी राय पेश कर देता हूँ; ये दुश्मनी नहीं है। अगर इससे किसी की पोल खुलती है या इमामत में फर्क पड़ता है तो इसमें मेरा क्या क़ुसूर है।

अकरम नक़्क़ाश– मज़्हर इमाम साहब ने आगे ये भी लिखा है कि गोपीचन्द नारंग और शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी के इख़्तिलाफ़ात का ख़ुसूसन नयी नस्ल पर काफ़ी नकारात्मक असर हुआ है। अदबी मसाएल पर(साहित्यिक समस्याओं पर) खुलकर लिखना दुश्वार हो रहा है और आज़ादी-ए-इज़्हार पर एक ग्रहण-सा लग गया है। ये अन्देशे कहाँ तक दुरुस्त हैं?

गोपीचन्द नारंग– ये भी रवारवी में कहा हुआ जुम्ला है। कोई दोनों हाथों में लड्डू रखना चाहता है तो ये उसका मस्अला है। अदब में ज़ात नहीं क़द्र देखी जाती है। जब तरक़्क़ीपसन्दों और जदीदियत के नज़रयाती इख़्तिलाफ़ात(दृष्टिकोणगत मतभेद) से नये लिखनेवालों के लिए कोई उलझन पैदा नहीं हुई या जब आले अहमद सुरूर और मु. हसन अस्करी की राह अलग थी; एहतेशाम हुसैन और सरदार जाफ़री की राह अलग; और जब शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी बाक़ायदा खण्डन-मण्डन कर रहे थे या अमीक़ हन्फ़ी एहतेशाम हुसैन के मत्न(text) आ रहे थे। तब तो किसी की तबीयत खिन्न नहीं हुई। अब मस्लेहत-पसन्दी(स्वार्थपरता) क्यूँ? मस्अला ये है कि वही लोग जो पहले आज़ादी-ए-इज़्हार(अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता) के नाम पर विरोध के अधिकार के पक्षधर थे, अब जो उनका विरोध किया गया तो वो दूसरों को ये अधिकार देने को तैयार नहीं हैं और बदले में कन्फ़्यूज़न फैलाते हैं। आज़ादी-ए-इज़्हार पर ग्रहण किसने लगायी है, जानते मज़हर इमाम भी हैं। वैचारिक मतभेद को व्यक्तिगत कौन बनाता है? हर शख़्स को मालूम है कि इन्तिहापसन्दाना(अतिवादिता) और मनमानी गुफ़्तगू अदब में गुमरही को राह देती है। जानने की ज़रूरत है कि अद्वाइयत, मुबालिग़आमेज़ी, इन्तिहापसन्दी और ख़ुदपसन्दी किसका मिज़ाज है? ये भी सब अच्छी तरह जानते हैं कि तारीख़ में पहली बार ऐसा हुआ है कि जानबूझकर नज़रयाती सत्ह पर इन्तिशार(व्यतिक्रम) फैलाया गया और कन्फ़्यूज़न पैदा किया गया। वही लोग जो कहानी में

कहानीपन और किरदारनिगारी के ख़िलाफ़ थे और तारीख़, तहज़ीबी और समाज से जुड़ी हुई क़द्रों को 'टाट बाहर' क़रार देते थे, आज वही तारीख़ी-ओ-तहज़ीबी बयानिया लिख रहे हैं। वही लोग जो सियासी-ओ-समाजी क़द्र को ग़ैर-अदबी क़द्र कहते थे, आज 'पोस्ट कॉलोनियल डिस्कोर्स की बात करते हैं। बीस-पच्चीस बरस पहले जिन्होंने प्राच्य सभ्यता या प्राच्य काव्यशास्त्र जैसी कोई अवधारणा तन्क़ीदी असास(आलोचनात्मक आधार) के बतौर इस्तेमाल नहीं किया था, आज वो प्राच्य काव्यशास्त्र की बात करते हैं। क्या ये सब paradigm shift जदीदियत और नये फ़ल्सफ़ों के बाद नहीं हुआ? गोया एतराज़ भी करना और उन्हीं बातों को क़ुबूल भी करना। ये है विरोधाभासी बयान और कन्फ़्यूज़न। बुनियादी मस्अला ये है कि वक़्त के साथ बदलना भी चाहते हैं और क़ुबूलना भी नहीं चाहते। इसलिए कि दिल में चोर है, सच बात कहना नहीं चाहते। इक़्बाल ने कहा था— *'ख़ानक़ाहों में मुजाविर रह गये या गोरकन'*, ये अदबी मुजाविर हैं ख़ुदा रहम करे, इनके हक़ में दुआ की ज़रूरत है।

अकरम नक़्क़ाश— मज़्हर इमाम साहब के उपर्युक्त बयान की रौशनी में हम देखते हैं तो आज का अदबी रिसाएल दो मुख़ालिफ़ महाज़ों(विरोधी ध्रुवों) पर नज़र आते हैं; एक तरफ़ 'नया वरक़' है तो दूसरी 'इस्बात', कहीं 'अदब साज़' तो कहीं 'नयी सदी', आज अदबी फ़ज़ा ऐसी ही सूरते-हाल की ज़द पर है। क्या ये मुम्किन नहीं कि क़लमकार आज़ादाना फ़ज़ा में खुली साँस ले सकें और तनाव की फ़ज़ा बदल जाय, ख़त्म हो जाय?

गोपीचन्द नारंग— अदब में मतभेद हमेशा रहा है। ये कोई नयी बात नहीं। ख़राबी वहाँ होती है जब लोग नज़रयाती तौर पर अपनी विचारधारा का बचाव नहीं कर सकते तो ओछे हथियार अपनाने लगते हैं। ये गन्दगी पहले नहीं थी। ध्यातव्य रहे कि गाली कमज़ोर व्यक्ति का हथियार है। जब दलील को दलील से नहीं काटा जा सकता तो लोग गालियाँ बकने लगते हैं, या पर्दे के पीछे से फ़िरक़ाबरदारी, मस्लक का सहारा लेकर अपने एहसासे-कमतरी को सहलाते हैं। विरोधों को बरदाश्त करना और अपनी राह खोटी न करना बड़प्पन और आली ज़र्फ़ी की दलील है। मेरी शदीद ख़्वाहिश है काश ऐसा हो, लेकिन ज़र्फ छोटे हो गये हैं और शख़्सियतें कोताह।

अकरम नक़्क़ाश— बड़ी शख़्सियतें विवादित भी होती हैं। क्या आप इस मान्यता से ख़ुद को अलग समझते हैं? हाल ही में आपकी किताब 'साख़्तियात' और 'मश्रिक़ी शेरियात' के बारे में कुछ नकारात्मक तह्रीरें मंज़रे-आम पर आयी हैं, क्या उन तह्रीरों का जवाब ख़ामोशी ही हो सकती है?

गोपीचन्द नारंग— आपने वो मिस्ल तो सुनी ही होगी— 'जवाब जाहिलाँ बाशुद ख़मोशी', किताब के अध्याय के छपे हुए आज चौबीस-पचीस बरस हो गये। आपने मेरी किताब पढ़ी होगी। अगर पढ़ी है तो उसका दीबाचा भी देखा होगा, इंतसाब(समर्पण) भी देखा होगा। सन्दर्भ-ग्रन्थों की फ़ेहरिस्त भी देखी होंगी। ताज्जुब ये कि बात उद्धरणों-उल्लेखों की की जा रही है, किताब के विमर्शों और उनकी उम्दगी या कमी की नहीं। अगर कोई बात ख़ुलूस के आधार पर कही जाय तो उस पर ग़ौर करना फ़र्ज़ है, लेकिन जब मालूम हो कि जो कुछ कहा जा रहा है वो साज़िश के तहत है या किरदारकशी और ख़ुर्दागीरी की फ़हम का हिस्सा है तो उसके बारे में वही कहा जा सकता है जो मैंने ऊपर कहा है। फिर बातें उन लोगों की तरफ़ से उठायी जायें जिनका थ्योरी से दूर-दूर तक कुछ लेना-देना नहीं है। बात सच हो तो एक बार कहना काफ़ी है, अलबत्ता झूठ के लिए बार-बार कहना ज़रूरी है। यहाँ तो खुला मिथ्या आरोप और किरदारकशी है। बम्बई के एक करमफ़र्मा

ने जो कुछ लिखा था उनका मसला ज़ाती था जो सबको मालूम है और जिसे मैं दोहराना नहीं चाहता। उन लोगों का मसला भी इल्मी नहीं ज़ाती है। फिर भी कुछ बरस पहले जब नन्दकिशोर विक्रम अपनी किताब छाप रहे थे तो उनके पूछने पर मैंने साफ़-साफ़ कहा था और ये छपा हुआ मौजूद है— ''जब मैंने थ्योरी पर काम करना शुरू किया, चूँकि मेरी तर्बियत साख़्तियाती लिसानियात(संरचनावादी भाषा-विज्ञान) की है, मुझे एहसास था कि फ़ल्सफ़े में 'बुनियादी' ज़रूरत साइंसी मौरूज़ियत (objectivity) की होती है। मेरे सामने ऐसे नमूने थे जहाँ लोग बात तो फ़ल्सफ़े की करते हैं, लेकिन जल्द कल्पना के परों से उड़ने लगते हैं। बहुत-से लोग अस्ल मत्न(मूल पाठ या मूल अवधारणा) से ज़ियादा ख़ुद को प्रदर्शित करने में लग जाते हैं या फिर अपने शैली और अपनी पद्धति का शिकार होकर इंशाइया लिखने लगते हैं। एक तो इस्तिलाहें (परिभाषाएँ) नहीं थीं, दूसरे नये फ़ल्सफ़ों का अन्दाज़ा ऐसा पेचीदा, अर्थवत्ता से लबरेज़ और क्लिष्ट है कि उसे वैज्ञानिक तार्किकता के साथ पाठक तक सम्प्रेषित करना कठिन है। अस्ल मत्न की preciseness और ज़ोरो-सलाबत rigour बनाये रखने के लिए बेहद ज़रूरी है कि समझने-समझाने में हर मुम्किन वसीले से मदद ली जाय और फ़ल्सफ़े के डिसिप्लिन की रद से, तख़य्युल की रंगआमेज़ी से और मौज़ूई ख़याल से मुम्किन हद तक बचा जाय। मेरी किताब के शुरू के दोनों हिस्से तश्‌रीही नौईयत के हैं। मश्‌रिक़ी शेरियात और अन्तिमवाले हिस्से बिल्कुल दूसरी प्रकार के हैं। नये फ़ल्सफ़ों और उनके नज़रियों और उनकी वैचारिकी के विश्लेषण में मैंने उद्धरणों-सन्दर्भों से बेधड़क मदद ली है। जहाँ ज़रूरी था वहाँ तल्ख़ीस और तर्जुमा भी किया है। बात का ज़ोर बनाये रखने के लिए अस्ल के quotations भी जगह-जगह देने पड़े ताकि फ़ल्सफ़ियाना दृष्टिकोण या वैचारिकी पूरी क़ुव्वत से उर्दू-पाठक तक सम्प्रेषित हो सके। हर हिस्से के साथ उसके उद्धरण और सन्दर्भित पुस्तकों की फ़ेहरिस्त दी है और जिन किताबों से निस्बतन् ज़ियादा फ़ायदा उठाया है या जिनसे ज़ियादा मदद ली है, सन्दर्भ की फ़ेहरिस्त में उन नामों पर स्टार (*) का निशान बना दिया है। ध्यातव्य हो कि विचार सॉस्यूर, लेवी, स्ट्रॉस, रोमन जैकबमन, लाकाँ, देरीदा, फूको, क्रिस्टीवा, बाख़्तिन वग़ैरह के हैं, मेरे नहीं। इसीलिए किताब का इंतिसाब(समर्पण) इन सब दार्शनिकों और चिन्तकों के नाम है जिनके विचारों पर किताब आधारित है। भूमिका में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि— ''विचार और दृष्टिकोण दार्शनिकों के हैं, इफ़्हामो-तफ़्हीम और ज़बान मेरी है।''

इन दार्शनिकों को समझना और उन्हें उर्दू में ले आना, और इस तरह ले आना कि दूसरे भी उस इफ़्हामो-तफ़्हीम(समझना-समझाना) में शरीक हो सकें और जिनको जिज्ञासा हो वो चाहें तो अस्ल किताबों से भी लाभान्वित हों और उन विचारों से आगाह हो सकें। मेरे लिए दार्शनिकों और चिन्तकों को व्यापक और विस्तृत रूप से समझना बहुत बड़ा चैलेंज़ था। मैं इससे सफल हो भी सका या नहीं या उर्दू में किसी दूसरी किताब या किसी दूसरे ने ये तारीख़ी ज़रूरत पूरी की, इस पर मुझे कुछ कहने की ज़रूरत नहीं।'' (गोपीचन्द नारंग : बैनुल अक़्वामी उर्दू शख़्सियत, मुरत्तबा नन्दकिशोर विक्रम, देहली 2008, पृ. 145) इन सारी बातों की तफ़्सील मैंने दीबाचे में दे दी है और सब सन्दर्भों के नाम सूची में दर्ज हैं। कमोबेश हर पृष्ठ चिन्तकों के कथनों और उनके नामों से रौशन है। परिशिष्ट में बीसियों किताबों पर ख़ास निशान हैं जिनसे मैंने जी भर के फ़ैज़ान(लाभ) हासिल किया। नुक्ताचीनी करनेवाले चिन्तन और दृष्टिकोण पैदाइश से साथ लाते होंगे, मैंने तो जो कुछ हासिल किया किताबों से हासिल किया। उनके नाम भी दे दिये और उनको निशानज़द भी कर दिया। बहुत दावा करना मेरा मिजाज़ नहीं, फिर भी मैं चैलेंज कर सकता हूँ कि एक सन्दर्भ या किसी एक लेखक का नाम अब बता दें जिसका हवाला मेरी सन्दर्भ-सूची में न हो। मैंने ऊपर कहा कि मैंने बेधड़क फ़ायदा उठाया है। उन बेचारों को तो 'सरक़ा' लफ़्ज़ का अर्थ भी नहीं मालूम। एक लफ़्ज़ कहीं देख लिया तो उसका राग अलापने लगे। मैं साफ़ कह चुका हूँ कि चिन्तन और विचार

चिन्तकों और आलोचकों के हैं, फ़क़त क्रमबद्धता या संयोजना मेरी है। जहाँ से जो कुछ ले सकता था डंके की चोट पर लिया। अलबत्ता उन विचारों से मोतियों की जो माला बनायी है उसमें मोती तो कहाँ-कहाँ के हैं, मगर वो माला मेरे ज़ेह्‌न ने, मैंने पिरोयी है। मेरे किताब के शुरू के दोनों सेक्शन तश्‌रीही(व्याख्यापरक) हैं, जिसमें साख़्तियाती (संरचनावादी) और पस साख़्तियाती (उत्तर संरचनावादी) विचारकों और मर्मज्ञों के विचारों को जैसा मैंने समझा, उन्हें ग़ैर-ज़रूरी ख़यालआराई से बचाकर हद दर्जा तार्किक ढंग से अपनी समझा के मुताबिक़ अपनी ज़बान में बयान कर दिया। मैंने ये कब दावा किया है कि ये विचार ओरिजिनल मेरे हैं। अलबत्ता जो नज़रयाती मुरक़्क़ा (विचार-मंजूषा) बनाया है, वो बुरा-भरा मेरे ज़ेह्‌नो-शऊर ने, यानी मैंने ही बनाया है। इतना जानता हूँ कि सरक़ा-वरक़ा, चोरी वग़ैरह, ये साजिशी फ़हमबाज़ी का हिस्सा है, मेरी किताब तो एक मामूली किताब है, ये कीड़े डालकर उसका महत्त्व बढ़ाते हैं। ख़ुद इससे बेह्‌तर किताब क्यों नहीं लिख देते, या एक नाम बता दें जिसको मैंने निशानज़द न किया हो? मैं एक मामूली मुसन्निफ़ सही, इतना जानता हूँ कि बड़े मुसन्निफ़(लेखक) छोटी-मोटी चोरी नहीं, बल्कि बड़ा डाका डालते हैं। कालिदास ने भी डाका डाला था, उनकी हर रचना महाभारत और पुराणों से उद्धृत है। शेक्सपियर ने भी डाका डाला था। 'ग़ालिब' ने भी 'बेदिल' पर डाका डाला था, वरना 'यास' यगाना चंगेज़ी ज़िन्दगी भर ग़ालिब-शिकनी का जोखिम न उठाते। इक़्बाल पर भी क़ुर्रतुलऐन ताहिरा का इल्ज़ाम आयद किया गया। मैंने तो अपनी भूमिका में पाठक को मूल पाठ से परिचित-लाभान्वित होने को भी कहा है और मेरी किताब से आगे निकल जाने की दावत भी दी है। मुझे अपनी कोताहियों का एहसास है।

मुझे ख़ुशी होगी एक दिन ऐसा आये जब मेरे विरोधियों में से कोई ज़ातयात से हटकर दिलसोज़ी, ख़ुलूस और नेकनीयती से ऐसा काम करे कि मेरा काम रद्द हो जाये। ख़ुदा करे ऐसा हो। कुछ तो ऐसा है कि ख़ुद शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी ने कहा था कि— ''......इधर तन्क़ीद की सत्ह पर एक ज़बरदस्त घटना सामने आयी है, वो गोपीचन्द नारंग की किताब है, ये किताब देर तक और दूर तक उर्दू-तन्क़ीद को प्रभावित करेगी.......।'' फिर ये भी फ़रमाया कि ''......ये एक बैनुलउलूमी किताब है जिसकी क़द्र ज़माना करेगा।'' अगर इसका दस फ़ीसद भी सच है तो ये मुझ नाचीज़ पर उनका करम है।

अकरम नक़्क़ाश साहब, क्योंकि इधर आपने सबकुछ नहीं पढ़ा; मैं चाहूँगा कि आप डॉ. मौला बख़्श की किताब 'जदीद अदबी थ्योरी और गोपीचन्द नारंग' का आख़िरी अध्याय 'मुतर्रिज़ीने-नारंग(नारंग-विरोधी) पर एक नज़र' जो कि चालीस-पचास पृष्ठों में है, उसे ज़रूर मुलाहिज़ा फ़रमा लें और निम्नलिखित दो लेख भी, जो इसके बाद उन्होंने लिखे हैं, उनको भी देख लें, हर बात का जवाब मिल जायेगा।

''Charge of Plagiarism : Myth or Reality?'' www.outlookindia.com

"The courtiers and Clowns", www.outlookindia.com

फिर ये भी मालूम कर लें कि ये लोग कितने अस्ली हैं और कितने जाली? एक जानकार ने तो इनके बारे में लिखा है कि जाली वीज़ा पर बरसों हिन्दोस्तान में रहे, इसे बार-बार बढ़वाकर मेज़बान मुल्क की मेह्‌रबानी का नाजायज़ फ़ायदा उठाते रहे, फिर अचानक एक रात चोरी-छुपे ग़ायब हो गये। बाहर के मुल्कों में पहुँचकर तो अदीब बड़ा अदीब बन जाता है। पूरा रेकार्ड RTI में मौजूद है। अगर ग़लत है तो कृपा करके बता दें कि सच क्या है? ऐसों का साथ देनेवाले भी ऐसे। मैं तो नहीं कहता, मगर लिखनेवालों ने लिखा है, कि चोर का गवाह गिरहकट; अगर ये लोग जाली नहीं या इनका किरदार मख़्दूश(संदिग्ध) नहीं तो बता दें कि फिर अस्लियत क्या है?

अकरम नक़्क़ाश– आज जब इंसान चाँद पर कमन्दें डाल रहा है, सारी दुनिया साइंस और टेक्नोलॉजी के ग़लबे में है। ऐसे में कुछ दीवानों के जुनून के सहारे ज़बानो-अदब, ख़ास तौर से उर्दू की नैया किनारे तक पहुँच सकती है?

गोपीचन्द नारंग– उर्दू के मसाएल तारीख़ और सियासत ने तो पैदा किये ही हैं, ख़ुद हमने भी पैदा किये हैं, जिसका इशारा ऊपर किया गया है। बेशक साइंस और टेक्नोलॉजी के ग़लबे से दुनिया की रफ़्तार बदल रही है तो उर्दू में तब्दीलियाँ आयेंगी। अफ़्सोस कि हमारी ज़बान संघर्ष के दौर में है। ये संघर्ष सियासी भी है, भाषाई भी और तह्ज़ीबी भी। अदब बेशक जुनून का खेल है, लेकिन ऐसी दीवानगी का जो इश्क़ के हुनर से सरशार हो, फ़क़त नकारात्मक और विरोधाभासी मसाएल में न उलझे। आनेवाले ज़माने को नये प्रेमचन्द, नये मंटो, नये बेदी, नये फ़ैज़, नये फ़िराक़ और नये अख़्तरुल ईमान की ज़रूरत है, ताकि नये आफ़ाक़ रौशन हो सकें। अदब की पहचान तख़्लीक़ियत से है, तन्क़ीद से नहीं।

अकरम नक़्क़ाश– नये लिखनेवालों में ऐसे कुछ नाम हैं जिनसे आपको उम्मीदें हैं?

गोपीचन्द नारंग– बेशक कुछ नाम ऐसे हैं जिनसे उम्मीदें वाबस्ता की जा सकती हैं, लेकिन अदब सौ मीटर की दौड़ नहीं, ये लम्बे फ़ासले की मैराथन है, जिसमें अपनी आवाज़ पाने और इन्फ़िरादियत (विशिष्टता) को मनवाने में ख़ास वक़्त लगता है। अपनी किताबों और तह्रीरों में मैं नाम भी लेता रहा हूँ और लिखता भी रहा हूँ। अलबत्ता नयी पीढ़ी में रियाज़त(साधना) और इल्मी ज़ौक़ (ज्ञानात्मक रुचि) की कमी है, वो बहुत जल्द बहकावे में आ जाती हैं; फिर भी वक़्त का सीना उम्मीद से धड़क रहा है। कुछ समकालीन आलोचकों की तरह मैं नयी नस्ल से यकसर मायूस नहीं हूँ।

(मूल उर्दू से लिप्यन्तरण : नूरुल एस. अंसारी)

मलिकज़ादा जावेद
30-डी, नीलगिरि-1
सेक्टर- 34, नोयडा (उ. प्र.)
मो.- 09899936228

मालिकज़ादा जावेद आधुनिक उर्दू-शायरी के ऐसे शायर हैं जिनका दख़्ल मुशायरों और लिखत-पढ़त में एक साथ है। स्तरीय और गम्भीर अदबी महफ़िलों में मलिकज़ादा जावेद की उपस्थिति पूरे हिन्दुस्तान में अक्सर देखी जा सकती है। इनके तीन ग़ज़ल-संग्रह 'खण्डर में चिराग़' (1993), 'धूप में आईना' (2008) और 'ज़ुल्फ़ में उलझी धूप'(2012) प्रकाशित हो चुके हैं तथा शीघ्र ही चौथा संग्रह 'क्रिस्टल' प्रकाशित होनेवाला है।

लखनऊ की जिन तीन शख़्सियतों को जावेद साहब ने यहाँ याद किया है, उन तीनों ने ही अपने-अपने ढंग से न सिर्फ़ उर्दू-अदब में अपना योगदान दिया है, बल्कि लखनऊ में एक अदबी फ़ज़ा बनाये रखने में भी अहम भूमिका अदा की थी। आज भी इन्हीं लोगों से दिशा और प्रेरणा पाये कई लोग लखनऊ में ग़ज़ल का माहौल बनाये हुए हैं। वाली आसी साहब के बहुत-से शेरों में आश्चर्यजनक ढंग की उद्धरणशीलता है। बहुत-से लोग इनके कई शेर सुने होंगे, मगर जानते नहीं होंगे कि किस शायर का है। मुशायरों में अक्सर संचालक(नाज़िम) ये शेर पढ़ते हैं-

हमने इक शाम चराग़ों से सजा रक्खी है
शर्त लोगों ने हवाओं से लगा रक्खी है

मलिकज़ादा जावेद

लखनऊ की तीन शख़्सियतें

(1)

अहदे-हाज़िर के जदीद लबो-लहजे के क़ुत्ब इरफ़ान सिद्दीक़ी का वतन हालाँकि बदायूँ था, मगर लखनऊ उनका वतने-सानी था। चूँकि प्रेस इन्फ़ार्मेशन ब्यूरो (PIB) में मुलाज़िम थे इसलिए वो मुख़्तलिफ़ शह्रों से होते हुए लखनऊ में बसिल्सिला-ए-मुलाज़मत रहते थे। वो मेरे वालिद प्रो. मलिकज़ादा मंज़ूर अहमद के क़रीबी दोस्तों में से एक थे। उनके घर और मेरे घर के तमाम लोगों का एक-दूसरे के यहाँ आना-जाना था। वो ख़ुद सुन्नी फ़िरक़ा से ताल्लुक़ रखते थे, मगर शिआ फ़िरक़े के लोग उनको क़द्रो-मंज़िलत की निगाहों से देखते थे, जिसकी वज्ह उनकी शायरी थी, क्योंकि इरफ़ान सिद्दीक़ी की शायरी में करबला का जो पसमंज़र था और जो तश्बीह और इस्तिआरा(उपमा और रूपक) उन्होंने वहाँ से अख़्ज़(ग्रहण) किये थे उसने लखनऊ की शिआ बिरादरी को बड़ा मुतास्सिर किया था और उन्होंने जब तक इरफ़ान सिद्दीक़ी हयात रहे, उनको पलकों पर बिठाये रखा। ये बात भी सच है कि सुन्नी जमात के लोग भी उनके चाहनेवाले थे। इन दोनों जमातों के लोगों ने इंसानी शक्ल में अपने-अपने बुत तराश रखे हैं। एक जमात दूसरी जमात के बुतों पर कटाक्ष करती है और तरह-तरह से निशाना बनाती है। इस मामले में बिला शुब्हा इरफ़ान सिद्दीक़ी साहब तारीफ़ के क़ाबिल थे कि दोनों जमातों के लोगों से बेपनाह मुहब्बतें मिलीं। इसकी दूसरी वज्ह ये थी कि वो शराफ़त और विनम्रता का मज्मूआ थे। उनकी एक नपी-तुली ज़िन्दगी थी। चन्द लोगों से ही वो बेतकल्लुफ़ थे। इल्म, संजीदगी और ज़ेहानत का एहसास उनसे पहली ही मुलाक़ात में लोगों को हो जाया करता था। मैं उनको अपनी शायरी अक्सर सुनाया करता था। वो बड़े ग़ौर से सुनते थे और मेरी हौसला अफ़्ज़ाई के लिए चन्द अच्छे जुम्लों का भी इस्तेमाल करते थे। नैयर मसूद और शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी से उनके बहुत अच्छे सम्बन्ध थे। उस ज़माने में फ़ारूक़ी साहब भी लखनऊ में Post and Telegraph महकमे में सबसे आला ओहदे पर फ़ाएज़ थे। ये तीनों हज़रात एक-दूसरे पर जान छिड़कते थे और अक्सर इनकी मह्फ़िलें सजा करती थीं। मुझे एक वाक़िआ याद आ रहा है कि —एक अदबी नशिस्त मशहूर फ़िक्शन राइटर इक़्बाल ने, जो कि उस ज़माने में लखनऊ में रहा करते थे, अपने घर पर रखी, जिसकी सदारत का बोझ शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी ने उठाया। उस नशिस्त में सम्भवत: दो अफ़्सानानिगारों के अफ़्साने और इरफ़ान सिद्दीक़ी की शायरी पर गुफ़्तगू होनी थी। इत्तिफ़ाक़ से उस नशिस्त में बहैसियत श्रोता मैं भी मौजूद था। जिन दो हज़रात ने अपने-अपने अफ़्साने पढ़े उन पर बड़ी ज़ोरदार गुफ़्तगू हुई। फिर इरफ़ान सिद्दीक़ी ने मुख़्तलिफ़ ग़ज़लों और नज़्मों से फ़ज़ा को मुअत्तर कर दिया, इससे पहले कि इरफ़ान साहब की शायरी पर बहस का आग़ाज़ होता सद्रे-मोह्तरम अपने मस्नद से हिले और कहा कि— ''इरफ़ान सिद्दीक़ी की शायरी हर लिहाज़ से मुस्तनद और मेआरी है, वो हमारे अहद के एक बड़े शायर हैं।

चुनांचे उनकी शायरी पर गुफ़्तगू की गुंजाइश बाक़ी नहीं रह जाती है। बहैसियत सद्र मैं इस नशिस्त के इख़्तिताम(समाप्ति) का ऐलान करता हूँ।''

इरफ़ान सिद्दीक़ी छोटे-से क़द के बुलन्द-क़ामत इंसान और शायर थे। उनके मकान से मुंसलक उर्दू के मुमताज़ शायर वाली आसी साहब का मकान था। सामने की तरफ़ मशहूर अफ़्सानानिगार आएशा सिद्दीक़ी साहिबा रहा करती थीं। इन तीनों से मेरे सम्बन्ध बहुत अच्छे थे। इरफ़ान सिद्दीक़ी का मकान सबसे पहले पड़ता था, जिसमें ड्राइंग रूम नीचे के हिस्से में था। मकान का बाक़ी हिस्सा पहली मंज़िल पर स्थित था, जहाँ उनकी फैमिली रहा करती थी। इरफ़ान साहब के यहाँ पर्दा का रिवाज था, मगर जिन लोगों से उनके घरेलू सम्बन्ध थे उनके सामने उनकी धर्मपत्नी आ जाती थीं। मेरा शुमार उस ज़माने में उनके घर के एक सदस्य की तरह से था, इसलिए जब मैं उनके दौलतकदे पर जाता था और नीचे ड्राइंग रूम में इरफ़ान साहब से गुफ़्तगू होती थी तो अक्सर उनकी धर्मपत्नी मेरी आवाज़ सुनकर मुझे ऊपर बुला लेतीं और बड़ी मुहब्बत और शफ़्क़त के साथ मेरी वालिदा की ख़ैरीयत दर्याफ़्त करती थीं और बग़ैर चाय पिये हुए वापस नहीं आने देती थीं। कभी-कभार वो हमारी गुफ़्तगू में भी हिस्सा लिया करती थीं।

वक़्त की गर्दिश ही इसे कहा जाये कि मेरा ट्रांसफ़र नोएडा हो गया और मैं मय अहलो-अयाल नोएडा मुंतक़िल हो गया। लखनऊ मेरा आना-जाना निस्बतन् कम हो गया, मगर इरफ़ान सिद्दीक़ी से मिलने उनके दफ़्तर लखनऊ पहुँचने पर जाया करता था, जो कि मेरे हेड ऑफ़िस जवाहर भवन के सामने स्थित हुआ करता था। वहाँ इरफ़ान साहब से लखनऊ और दिल्ली के अदबी माहौल पर बात होती थी। इरफ़ान साहब शेर सुनाने के मामले में अपना दामन बचाते फिरते थे, बार-बार हठ करने पर बड़ी मुश्किलों से शेर सुनाते थे। आम तौर पर वो ये कहकर अपना दामन बचा लेते थे कि उन्हें ज़बानी अश्आर याद नहीं हैं और वो अपनी डायरी घर पर छोड़ आये हैं, लेकिन दीगर शोअरा के अश्आर वो इस्रार(हठ, आग्रह) करके सुनते थे और अपनी दादो-तहसीन से उसे नवाज़ते थे। PIB से रिटायर होने के बाद वो एक अख़बार 'सहाफ़त' से जुड़ गये, जहाँ एक अर्सा तक वो रहे। वो जब तक 'सहाफ़त' से वाबस्ता रहे रोज़ शाम को उनके चन्द अहबाब, जिनमें मेरे वालिद साहब भी शामिल थे, अख़बार के दफ़्तर में महफ़िलें जमाते थे। ख़राबिए-सेहत की वज्ह से उन्होंने 'सहाफ़त' को भी तर्क कर दिया और मुकम्मल तौर पर साहिबे-फ़राश हो गये। एक दिन मेरे वालिद का फोन आया कि इरफ़ान भाई कैंसर जैसे लाइलाज मरज़ में गिरफ़्तार हो गये। वो लखनऊ के मेडिकल कॉलेज के ट्रॉमा सेण्टर में ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई लड़ रहे हैं। मैं नोएडा से लखनऊ पहुँचा और वालिद साहब के साथ ट्रॉमा सेण्टर इरफ़ान साहब को देखने पहुँच गया। वहाँ वो बेहोशी के आलम में मिले। भाभी मोह्तरमा उनके सिरहाने मौजूद थीं और उन्हें टकटकी बाँधे हुए देख रही थीं। बीच-बीच में वो एक साफ़ कपड़े से उनका चेह्रा साफ़ कर दिया करती थीं। कुछ देर ठहरकर, हम लोग भाभी को झूठी तसल्लियाँ देकर बोझिल कदमों से वापस आ गये। दूसरे दिन पता चला कि इरफ़ान सिद्दीक़ी दुनिया-ए-फ़ानी से अपनी मज़्बूत मौजूदगी का एहसास करवाकर रुख़्सत हो गये।

(2)

'मक्तबा दीनो-अदब' वाली आसी साहब की एक छोटी-सी दुकान का नाम था, जो कि अमीनाबाद में स्थित थी। उस दुकान में दीनो-अदब दोनों विषयों की किताबें मिल जाती थीं। शोअरा और अदबा के अलावा समाज के हर तब्क़ा के लोगों की आमद-रफ़्त उस दुकान पर रहा करती थीं, जिसमें सूफ़ी, ग़ज़ल-गायक, डॉक्टर, नीमवहशी इंसान, बुतपरस्त, बुतशिकन गोया कि हर तरह के लोग वाली आसी की सोह्बत का लुत्फ़ लिया करते थे। उनका इल्म ख़ुदा की पनाह, उर्दू अदब के

क्लासिक पर उनकी भरपूर निगाह थी। पुराने शोअरा का बहुत कलाम उन्हें हिफ़्ज़(याद) था। बड़े से बड़ा अदीब और शायर उनसे अदब और शायरी के मुआम्लात में फ़ायदा हासिल करता था। बहुत-से शायर और आसी साहब के बहुत-से शागिर्द उनकी दुकान का चक्कर लगाते हुए दिखायी देते थे। क़हक़हे, चाय, पान, सिगरेट, बीड़ी, शायरी, ग़ीबतें, तर्बीयतें, इस्लाहात, उनकी दुकान का विशेषता बन चुकी थीं। जो लोग उनके हल्क़ा ब गोशों में शामिल थे और पाबन्दी से उनसे रस्मो-राह रखते थे उनमें अहक़र भी शामिल था। ये बात बिल्कुल सच है कि वाली आसी की दुकान पर गये बिना एक ख़ालीपन का एहसास साहित्यकारों को होता था। बैरूनी शायर-ओ-अदीब वाली से एक तअल्लुक़ रखते थे और लखनऊ आने पर उनकी मिज़ाजपुर्सी के लिए और दिलचस्प गुफ़्तगू सुनने के लिए उनकी दुकान की जानिब रवाँ नज़र आते थे। मुझे वाली आसी से बहुत-कुछ सीखने का मौक़ा मिला। उन्होंने मेरी तर्बियत इस तरह की कि वो उस्तादों का कोई मिस्रा देकर मुझसे उस पर मिस्रा लगाने के लिए कहते थे। अगर मैंने मिस्रा ठीक-ठाक लगा दिया तो वो बहुत ख़ुश होते थे, मुत्मइन न होने की सूरत में तब तक अपनी दुकान से मुझे रुख़्सत नहीं करते थे जब तक मैं उनके मिज़ाज के मुताबिक़ कोई मिस्रा न लगा देता था। मुझे मुशायरों की लत उन्होंने लगायी और मेरे इब्तिदाई दिनों में वो मुझे कई मुशायरों में अपने हमराह ले गये और मुझमें एक आत्मविश्वास पैदा किया। वो एक मज़हबी इंसान थे, नमाज़-रोज़ा के पाबन्द थे। अपनी छोटी-सी दुकान में मुसल्ला और तस्बीह रखते थे, नमाज़ के वक़्त वो सब लोगों से नबर्दआज़मा होकर इबादत में मस्रूफ़ हो जाते थे। रमज़ान के दिनों में अफ़्तार के वक़्त उनकी दुकान में एक जश्न का माहौल रहता था। लोग अफ़्तारी बनवा-बनवा कर लाते थे और एक साथ बैठकर रोज़ा खोलते थे। उन लोगों में मेरे जैसे कुछ बेराह-रौ लोग भी थे जो कि बग़ैर रोज़ा रखे उनके यहाँ अफ़्तारी करने पहुँच जाते थे। मैं नोएडा ट्रांसफ़र हो चुका था, मगर मेरी आमद-रफ़्त का सिल्सिला लखनऊ पहुँचने पर बराबर वाली आसी साहब के मक्तबा में रहा करता था। वो एक हस्सास तबीअत रखनेवाले मासूम-सिफ़त इंसान थे।

एक बार शाहजहाँपुर के मुशायरे के कन्वीनर उन्हें आमन्त्रित करने के लिए आये तो मैं उनके मक्तबा में मौजूद था, चुनांचे उन्होंने मुझे भी एक माक़ूल ज़ादे-राह के साथ उस मुशायरे में मदऊ करवा दिया। वक़्ते-मुक़र्रा पर हम लोग ट्रेन पर सवार हो गये। बराबरवाले डिब्बे में अपने ज़माने की मशहूर-ओ-मारूफ़ शायरा बरखा रानी भी उसी मुशायरे में जाने के लिए मौजूद थीं। ट्रेन जब शाहजहाँपुर पहुँची तो नौजवानों का एक ग़ोल उपस्थित हुआ, और हम लोगों से ये कहकर बरखा रानी को अपने साथ ले गया कि आप लोग स्टेशन पर रुकें, कोई-न-कोई आप हज़रात को लेने के लिए आता होगा। वाली आसी साहब को लड़कों का ये व्यवहार बहुत बुरा लगा। फिर जब इन्तिज़ार के बाद काफ़ी वक़्त तक कोई नहीं आया तो वाली साहब बुरी तरह बरहम हो गये और लखनऊ वापसी का टिकट लेकर ट्रेन का इन्तिज़ार करने लगे। इसी दरमियान् मुशायरा कमेटी के लोग आ गये, मगर वाली साहब किसी तौर पर भी मुशायरे में चलने के लिए रज़ामन्द नहीं हुए और मुझे लेकर लखनऊ वापस हो गये।

मैं वाली साहब की दुकान पर बैठा था और वे रियाज़ औरंगाबादी का कलाम दीवान से मुझे सुना रहे थे। बीच-बीच में मफ़्हूम भी समझाते जा रहे थे। अचानक एक भीख माँगनेवाली औरत दुकान पर आयी और उसने वाली साहब से दस रुपये माँगे। वे बोले कि– ''माई दस रुपयों का क्या करोगी?'' उसने कहा– ''चाय पीना है।'' वाली साहब बोले–''चाय तो दो रुपये में आती है।'' और डिब्बे को मेज़ के नीचे से निकालकर उसे दो रुपये देने लगे। एकाएक उस औरत ने झपट्टा मारा और पूरा डिब्बा, जिसमें तक़्रीबन् सौ रुपये होंगे, उनके हाथ से छीनकर भाग गयी। मैंने उस औरत को दूर दौड़ाया, मगर वो मेरे हाथ नहीं आयी। जब लौटा तो वे मुस्कुराकर बोले कि तुम्हें

उस औरत के पीछे नहीं जाना चाहिए था। मुझे बड़ा ग़ुस्सा आया और मैं बोला कि आपने फ़क़ीरों को बहुत मुँह लगा रक्खा है, जिसकी वज्ह से उसकी से हिम्मत हुई कि आज उसने ये हरकत की। वे बड़े इत्मीनान से बोले कि– ''आज अल्लाह तआला ने उसकी तमाम ज़रूरियात मेरे सुपुर्द इसी तरह की है। ख़ुदा करे वो पैसे जो वो मुझसे छीन कर ले गयी है वो उसके काम आ जायें।''

एक बार नोएडा से लखनऊ पहुँचा तो ऑफिस से सीधे वाली आसी की दुकान पर गया। वे साफ़-सुथरे कपड़े पहने बैठे थे। मैंने पूछा–''कहीं जा रहे हैं?'' वो बोले–''आज कृष्णबिहारी 'नूर' की एक शागिर्दा, जो कि डॉक्टर हैं, उन्होंने PGI में एक नशिस्त रखी है, वहीं जाने का इरादा है, तुम भी चलो।'' मैंने उनसे माफ़ी माँगी और कहा कि–''मेरी मुलाक़ात अभी वालिदैन से नहीं हुई है। मैं स्टेशन से सीधे ऑफ़िस चला गया था। अब मुझे आपसे मिलकर घर जाना है।'' इतने में दुकान के बाहर कार का हॉर्न बजा, कृष्णबिहारी 'नूर' गाड़ी से उतरे। नूर साहब से मेरी सलाम-दुआ हुई और वो वाली साहब को लेकर गाड़ी में बैठ गये और चलते-चलते उन्होंने कहा कि– ''कल ज़रूर आना, मैं तुम्हारा इन्तिज़ार करूँगा।'' मगर वो कल कभी नहीं आया। नशिस्त के दौरान उन्हें दिल का दौरा पड़ा और वहीं पर उनका इन्तिक़ाल हो गया। दूसरे दिन उनकी मैयत में हज़ारों का मज्मा रहा। मैं भी उस मज्मे के साथ-साथ ऐशबाग कब्रिस्तान तक गया और वाली आसी को दफ़्न करके लौट आया। आज जब अमीनाबाद में आसी साहब की दुकान के सामने से मेरा गुज़र होता है तो मैं उस दुकान से निगाहें बचाकर तेज़-तेज़ क़दमों से निकलता हूँ क्योंकि वाली आसी की आवाज़ मेरा पीछा करती हुई महसूस होती है, जो मुझसे कहती है– किधर जा रहे हो मलिकज़ादा जावेद? सिराज औरंगाबादी, अख़्तर उल ईमान और मेरे शागिर्द मुनव्वर राना का कलाम नहीं सुनोगे?

(3)

मेरे वालिद प्रो. मलिकज़ादा मंज़ूर अहमद ने उत्तर प्रदेश में उर्दू के विकास के लिए 'उर्दू राब्ता कमेटी' के नाम से एक संस्था बनायी, जिसमें मशहूर अफ़्सानानिगार रामलाल उनके साथ-साथ थे। इन हज़रात ने उत्तर प्रदेश के मुख़्तलिफ़ शहरों, क़स्बों और गाँवों में जा-जाकर अपने भाषणों के ज़रिअे एक जागरूकता अभियान, उर्दू के सिल्सिला में, अवामो-ख़वास में चलाया और एक दिन 'उर्दू राब्ता कमेटी' के ज़ेरे-एहतमाम विधानसभा लखनऊ के सामने गिरफ़्तारियाँ भी दीं। फलस्वरूप इसके बड़े अच्छे नतीजे बरामद हुए। सबसे पहला तो यही कि सत्ताधारी कांग्रेस के मुख्यमंत्री नारायणदत्त तिवारी ने यू.पी. में उर्दू को दूसरी सरकारी ज़बान का दर्जा देने का ऐलान कर दिया। इस पूरी तह्रीक को आर्थिक मदद देनेवाले इंसान का नाम मक़्बूल अहमद लारी था, जो कि उर्दू-ज़बान के आशिक़ों में थे और 'मीर एकेडमी' नाम की संस्था चलाया करते थे, जिसके तहत शायरों और अदीबों की तख़्लीकात पर उन्हें अपनी एकेडमी के ज़रिअे 'इम्तियाज़े-मीर' और 'नवा-ए-मीर' नाम के सम्मान-पत्र के साथ कुछ रकम भी साल भर में एक बहुत बड़ा जलसा करके देते थे। उस ज़माने का शायद ही कोई उर्दू का अदीबो-शायर बचा हो जिसको ये एज़ाज़ न मिला हो। मक़्बूल अहमद लारी की उर्दू नवाज़ी का ये आलम था कि आम दिनों में भी उनकी कोठी 'मक़्बूल मंज़िल' में उर्दूवालों की चहल-पहल रहती थी। शह्र के अदीबों और शोअरा के अलावा दीगर शह्रों से भी उनके यहाँ अदीबो-शायर आया-जाया करते थे।

मक़्बूल लारी क़स्बा लार, जो कि देवरिया ज़िले का एक क़स्बा है, के रहनेवाले थे और उनका कारोबार नेपाल में था। वो एक कुशादा-दिल और कुशादा-ज़ेह्न इंसान थे। उनकी कोठी सिटी स्टेशन लखनऊ के पास थी, जो कि ख़ूबसूरती के लिहाज़ से लखनऊ की गिनी-चुनी इमारतों में से एक थी और बहुत लम्बी-चौड़ी थी। उस कोठी के सद्र दरवाज़े के क़रीब साफ़-सुथरे, उजले कपड़ों से ढकी कुर्सियाँ पड़ी रहती थीं। लारी साहब सुब्ह उन्हीं कुर्सियों में से एक पर आकर बैठ

जाते थे और अपने मुक़र्रर वक़्त तक यहीं पर लोगों से मिला करते थे। इसके बाद घर के अन्दर चले जाते थे और शाम को फिर बाहर निकलते थे और अपने अहबाब, अदीबों-शायरों से मुलाक़ात करके गपशप किया करते थे। उस दौरान ख़ूबसूरत टी-सेट में चाय और नाश्ता का बन्दोबस्त मिलनेवालों के लिए रहता था। लारी साहब की एक शेरवानी थी, जिसके बटन सोने के थे। वो शेरवानी ख़ास-ख़ास मौक़ों पर पहनी जाती थी। एक दिन वो कुछ उदास और अफ़्सुर्दा(खिन्न) दिखे तो मेरे वालिद साहब ने उनसे पूछा कि माजरा क्या है। वो बोले किसी मुलाज़िम ने एक बटन तोड़ लिया है, जिसकी वज्ह से वो परेशान हैं। मेरे वालिद ने कहा कि आप तो साहिबे-ज़र हैं, दूसरा बटन बनवा लीजिए। वो बोले बनवा तो लेता, मगर जिस कारीगर ने ये सब बटन बनाये थे और उस पर जो नक़्क़ाशी की थी, वो कारीगर मर चुका है।

बादशाहों ने, रईसों ने, जागीरदारों ने अपने-अपने वक़्त में शोअरा और अदीबों की हमेशा क़द्र की है, जिसका फ़ैज़ शोअरा-ए-उर्दू इब्तिदाई ज़माने से उठाते चले आ रहे हैं। तख़्लीक़ हो या तख़्लीक़कार बग़ैर सरपरस्ती के नुमायाँ नहीं होता है, ये बात बिल्कुल सच है। मक़्बूल लारी ने उर्दू-ज़बान और अदब के लिए जो बेशबहा ख़िद्मात अंजाम दिये हैं वो नाक़ाबिले-फ़रामोश हैं। 'दीवाने-मीर' को 'हदीसे-मीर' के नाम से इन्होंने प्रकाशित किया है। इतनी ख़ूबसूरत किताब मैंने आज तक नहीं देखी है। मेरा ताल्लुक़ लारी साहब से मेरे वालिद साहब के हवाले से था। जब वो लारी साहब से मिलने जाते थे तो वे मेरी ख़ैरीयत दर्याफ़्त करते और वालिद साहब के ज़रिअे मुझे बुलाते थे। लारी साहब मुझे अच्छा इंसान बनने के लिए क्या-क्या गुण ज़रूरी हैं, इसका दर्स देते थे। उर्दू-ज़बान के सिल्सिले में फ़िरक़ापरस्त लोगों के नज़रियात से उन्हें चोट पहुँचती थी। ऐसे लोगों से वो कहते थे कि उर्दू-ज़बान एक मुश्तरका ज़बान है, जिसमें तमाम मज़हबों के लोग शामिल हैं। ये ज़बान किसी एक फ़िरक़ा, किसी एक मज़हब की नहीं है। इसको हिन्दुस्तान में दीगर ज़बानों के साथ-साथ फलने-फूलने का हक़ है।

ग़रीबों की मदद करना, लोगों के काम आना, ज़बान और अदब के फ़रोग़ में हिस्सा लेनेवाले का इन्तिक़ाल तो हो गया, मगर लारी साहब अपनी जगह पर हैं। उजले कपड़ों में लिपटी कुर्सियों पर गर्द ने अपने पाँव फैला लिये हैं। घर का बाहरी हिस्सा शादी-घर (Marriage Hall) में तब्दील हो चुका है। माज़ी की सालेह और अच्छी रवायतें ख़त्म हो चुकी हैं। अब न वो मह्फिलें हैं, न वो क़हक़हे, बस एक सन्नाटा-सा तारी है।

(मूल उर्दू से लिप्यन्तरण : दीपक रूहानी)

हरेराम समीप
395, सेक्टर- 8
फ़रीदाबाद-121006 हरियाणा
मो.- 09871691313

हरेराम समीप ने हिन्दी-साहित्य को अब तक विविध प्रकार से समृद्ध एवं सम्पन्न किया है। अब तक इनके पाँच ग़ज़ल-संग्रह, तीन दोहा-संग्रह, एक कहानी-संग्रह, एक कविता-संग्रह एवं एक हाइकू-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। सम्पादन, समीक्षा तथा अनुवाद-कार्य की लगभग 10 पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं तथा इन्हें अपने विभिन्न उत्कृष्ट साहित्यिक योगदानों के लिए कई सम्मानों एवं पुरस्कारों से अलंकृत किया जा चुका है। शीघ्र ही इनकी 25 हिन्दी ग़ज़लकारों की समीक्षा पर आधारित एक पुस्तक प्रकाशित होनेवाली है।

विज्ञानव्रत हिन्दी-ग़ज़ल ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समकालीन ग़ज़ल का एक चर्चित और स्वीकार्य नाम हैं। नये कवियों और शायरों की एक पूरी पीढ़ी इन्हें पढ़ते-सुनते, गुनते-बुनते जवान हुई है और इनका अनुकरण-अनुसरण करती है। इन्होंने ग़ज़ल की अन्तर्निहित तमाम सम्भावनाओं में से कई सम्भावनाओं को अपनी कलात्मक दृष्टि और अथक साधना से उद्‌घाटित किया है।

हरेराम समीप

विज्ञान व्रत : छोटी बह्‌र का बड़ा ग़ज़लकार

जहाँ सम्पूर्ण ग़ज़ल-साहित्य में छोटी बह्‌र में ग़ज़लें कहनेवाले कुछ ही शायर हुए हैं, वहीं हिन्दी में तो विज्ञान व्रत एकमात्र ऐसे ग़ज़लकार हैं जो सिर्फ़ छोटी बह्‌र में ही ग़ज़ल कहते हैं। इसीलिए विज्ञान व्रत हिन्दी-ग़ज़ल साहित्य के एक अलहदा रचनाकार हैं। लगभग तीस साल पहले विज्ञान व्रत की ग़ज़लों की ऐसी हलचल मची कि उनकी ग़ज़लों की तरह ग़ज़लें लिखने का चलन-सा पड़ गया और वे हिन्दी के उन लोकप्रिय ग़ज़लकारों में शुमार होने लगे हैं जिन्होंने हिन्दी-ग़ज़ल को एक नयी शैली, नयी भंगिमा नये तेवर प्रदान किये हैं। अब तक विज्ञान व्रत के चार ग़ज़ल-संग्रह— 'बाहर धूप खड़ी है', 'चुप की आवाज़', 'जैसे कोई लौटेगा' और 'तब तक हूँ' प्रकाशित हो चुके हैं और हाल ही में 'मैं जहाँ हूँ' नाम से प्रकाशित हुआ।

पिछले लगभग तीस सालों से मैं विज्ञान जी के लेखन का साक्षी रहा हूँ। उनकी लगभग प्रत्येक ग़ज़ल का प्रथम श्रोता। उनके व्यक्तित्व और उनकी सर्जना के अनेक आयाम मैंने देखे हैं। आज उनके बारे में कुछ कहने के ध्येय से जब उनके साथ बिताये तीन दशकों को मैं याद कर रहा हूँ। मैंने जब उनके ग़ज़ल-संग्रहों को दोबारा पढ़ा तो एक अद्‌भुत अनुभव हुआ। एक विराट् व विलक्षण व्यक्तित्व के रूप में विज्ञान व्रत मेरे सामने खड़े हो गये और मैं सोचता रह गया कि बात कहाँ से शुरू करूँ। कुछ कहने से पहले मैं बता दूँ कि मैं कोई ग़ज़लशास्त्र का ज्ञाता या समीक्षक नहीं हूँ, अपनी सीमित समझ से विज्ञान व्रत के व्यक्तित्व और उनकी रचनाशीलता के कुछेक आयामों को ज़रूर छूने की कोशिश करूँगा, साथ ही ये जानने का प्रयत्न भी कि विज्ञान व्रत अपनी इस रचनाशीलता के लिए ऊर्जा कहाँ से जुटा रहे हैं।

एक हरदिल अज़ीज़, अलमस्त व्यक्तित्व, अपने फक्कड़पन में गुम, उन्मुक्त शायर व धुनी चित्रकार जिसे दुनिया भर के कला-प्रेमी प्यार करते हैं, वहीं उनकी ख़ासियत ये भी है कि उन्हें हर तरह के नक़्लीपन और झूठ से बेहद नफ़रत है। इतने बेलाग़ और बेबाक शख़्स हैं कि बड़ी-से-बड़ी गोष्ठी में बड़े-से-बड़े व्यक्ति के कथन पर अपनी असहमति जताने में वो कभी नहीं झिझकते। मैंने यही बेबाक और तपाक लहजा उनकी ग़जलों में भी पाया है। यहाँ मैं समकालीन हिन्दी के वरिष्ठ और नया दोहा आन्दोलन के प्रथम दोहाकार डॉ.पाल भसीन की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगा। वे कहते हैं कि— ''बला का अध्यवसायी विज्ञान व्रत अपने एक-एक शब्द पर महीनों माथापच्ची करता है। तब तक उस पर बात करता है जब तक बात नहीं बन जाती। उसकी सहज विनम्रता के पारदर्शी आच्छादन से झाँकता उसका खिलन्दड़ापन, उसका ठस्सा और जुझारू तेवर किसी सम्मोहन का-सा असर करते हैं।''

विज्ञान व्रत का जन्म 17 अगस्त 1943 को मेरठ ज़िले के तेढ़ा गाँव में हुआ। चित्रकला में स्नातकोत्तर शिक्षा के बाद उन्होंने केन्द्रीय विद्यालय, नयी दिल्ली में अध्यापन किया, साथ ही चित्रकारी की और टी.वी. धारावाहिक में अभिनय व गीत-लेखन भी किया। अनेक प्रख्यात ग़ज़ल-गायकों विशेष रूप से जगजीत सिंह, निशान्त अक्षर, धनंजय कौल तथा साहब सिंह द्वारा उनकी ग़ज़लों का गायन हुआ। 'चुप की आवाज़' शीर्षक से उनकी ग़ज़लों का एक एल्बम प्रसारित व लोकप्रिय हुआ। देश व विदेशों में विज्ञान व्रत की अब तक अनेक चित्रकला प्रदर्शनियों और काव्यपाठ के आयोजन हो चुके हैं।

हिन्दी की सभी स्तरीय साहित्यिक पत्रिकाओं में ग़ज़लों के प्रकाशन के बीच विज्ञान व्रत का पहला ग़ज़ल-संग्रह 'बाहर धूप खड़ी है' सन् 1991 में दिल्ली अकादमी के सौजन्य से प्रकाशित हुआ तथा इसी संग्रह का चौथा संस्करण भी प्रकाशित होनेवाला है। इसमें उनकी 54 ग़ज़लें संग्रहीत हैं। ये संग्रह अनेक कारणों से विशेष चर्चा में रहा। पहला कारण संग्रह के शीर्षक अर्थात् 'बाहर धूप खड़ी है' का व्यापक और बहुआयामी अर्थबोध। पूरा शेर कुछ यूँ है-

बाहर धूप खड़ी है कब से
खिड़की खोलो अपने घर की

धूप अर्थात् रौशनी यदि घर के बाहर खड़ी है तो तय है कि अँधेरा कहीं भीतर है जिसे हटाना है। दूसरा कारण आज़ादी के साठ साल बाद भी अपने अविकसित भारतीय समाज को यह संकेतित है कि दुनिया बदल रही है, ज्ञान-विज्ञान की जो रौशनी बाहर से आ रही है उसका स्वागत करें, अब और कूपमण्डूक न बने रहें। इस तरह ये शेर हमें नवता के अभिनन्दन का सन्देश दे रहा है। तीसरा कारण, यदि हम हिन्दी-ग़ज़ल के तत्कालीन परिदृश्य में इस शेर के शीर्षक को देखें तो एक और अर्थ झाँकता है। मुझे याद है कि उन दिनों विज्ञान व्रत जब भी बात करते समकालीन ग़ज़ल लेखन से सन्तुष्ट नहीं लगते थे। अक्सर कहते इन शेरों में क्या है, महज़ राजनीतिक नारेबाज़ी है या फिर वही कवि सम्मेलनी भावुकताएँ, अरे भाई ज़िन्दगी कहाँ है, जीवन-संघर्ष कहाँ है। तब हिन्दी कविता भी निरी बौद्धिक जटिलता से भरी 'विचार-अभिव्यक्ति' की राह पकड़ रही थी। यथार्थवाद के नाम से राजनीतिक नारेबाज़ी और मार्क्सवादी विचारधारा के साँचे में थोक में कविताएँ निकलकर आ रही थीं और मन की, संवेदना की, अहसास की अभिव्यक्ति को या कहें आत्मा के स्पन्दन को कविता से सर्वथा दूर कर दिया गया था। तब यथार्थवाद व जनवाद के राजनीतिक व वैचारिक संजाल से घिरी हिन्दी-ग़ज़ल में आ रहे इस बदलाव को विज्ञान व्रत ने ख़ूब पकड़ा और ग़ज़ल को पुन: अंत:स्थल के भावबोध की ओर मोड़ दिया। सम्भवत: विज्ञान व्रत ने भी इसी काव्य-परिदृश्य को इंगित करते हुए ये शीर्षक लिया हो कि 'बाहर धूप खड़ी है'; अपनी जड़ताओं, अपने अन्धविश्वासों और सड़ी-गली परम्पराओं की खिड़की खोलो और देखो नया सूरज तुम्हारा इंतज़ार कर रहा है। इस आवाहन के साथ विज्ञान व्रत ने स्वयं पहल करते हुए ग़ज़ल में नये बिम्बों व प्रतीकों का सृजन किया। सम्बन्धों के केन्द्र-स्थल 'घर' को ग़ज़ल के विमर्श में पुन: शामिल किया।

वास्तव में विज्ञान व्रत मन के भीतर की दुनिया अर्थात् रिश्तों के पुंज को 'घर' शब्द से अभिहित करना चाहते थे। वे बाहरी राजनीतिक, सामाजिक समस्याओं, विडम्बनाओं तथा अन्तर्विरोधों के स्वरूप को समझने का बुनियादी आधार भी घर को ही मानते हैं। दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू ये है कि ग़ज़ल भी नाट्य लेखन की तरह एक संयुक्त विधा है। जैसे नाटक को रंगमंच पर पूर्णता मिलती है उसी तरह ग़ज़ल को अन्य कलात्मक अभिव्यक्ति जैसे गायन या चित्रकला से मिलती है। सुखद है कि इस संग्रह में स्वयं विज्ञान व्रत के सारगर्भित रेखांकन इन ग़ज़लों को और अर्थपूर्ण बना रहे हैं। अपने इन रेखांकनों के साथ-साथ प्रत्येक संग्रह के आवरण चित्रों के ज़रिए हमें लगे हाथ विज्ञान व्रत की उत्कृष्ट चित्रकारी का परिचय भी मिल गया है।

इस संग्रह की एक और महत्त्वपूर्ण बात ये है कि उर्दू के उस्ताद शायर और विज्ञान व्रत के आत्मीय जनाब अमीर क़ज़लबाश ने संग्रह में विज्ञान व्रत की शख़्सियत और उनकी ग़ज़लियत पर सटीक टिप्पणी की है, वे कहते हैं— ''विज्ञान व्रत एक ज़हीन-ओ-हस्सास, बाशऊर और ख़ुद्दार शख़्सियत के मालिक हैं और मेरे अज़ीज़ हैं। शेर कहने की लगन और तड़प शुरू से ही इनमें थी। ज़ेरे-नज़र ग़ज़लों का मज्मूआ शेरगोई की उनकी लगन और तड़प का समर है। विज्ञान का अन्दाज़े-बयाँ फ़ितरी, सादा और ग़ैरमामूली तौर पर तर्सील का हासिल है। वो अल्फ़ाज़ के इंतख़ाब के लिए शऊरी कोशिश नहीं करते, बल्कि ये उनके सैल में ख़ुद-ब-ख़ुद बहते हुए आते हैं।'' ये शेर ग़ौर फ़रमाएँ—

या तो मुझसे यारी रख   या फिर दुनियादारी रख

यहाँ दुनियादारी से आशय उस समझौतापरस्त सोच से है जो केवल अपना ही हित पूरा करने में लगी रहती है, जबकि यारी या दोस्ती निश्छल व नि:स्वार्थ होती है। इसी क्रम में दुनियादारी द्वारा निर्मित परिभाषाओं से अलग कवि अपने वजूद को एक प्रखर अपवाद कहकर स्पष्ट करता है—

उसकी सब परिभाषाओं में   एक प्रखर अपवाद रहा मैं

या,

मैं था तन्हा एक तरफ़   और ज़माना एक तरफ़

और फिर वो निर्णय कर लेता है कि

हारे या जीतें अबके हम   कितनी बार सुलह कर देखें

आज की ग़ज़ल अपने सामने चलती-फिरती ज़िन्दगी की कॉमेण्ट्री है। इसके प्रति हम आँख, कान बन्द नहीं कर सकते। इस ज़िन्दगी में क़दम-क़दम पर लड़ाई है और ये सही भी है कि इस लड़ाई को गहराई से समझे बिना नहीं जीता जा सकता है—

आख़िर उसको मौत मिली   सच कहता था क्या करता

ये शेर एक तरफ़ तो सच के प्रति एक व्यक्ति की निष्ठा का गुणगान करता है तो दूसरी तरफ़ उस समाज की विसंगतियों की ओर भी ध्यान खींचता है, जहाँ सच बोलनेवालों को मार दिया जाता है। यहाँ विज्ञान व्रत का व्यक्तित्व उनकी ग़ज़लों में घुलकर अभिव्यक्त हुआ है। ऐसे शेर पाठक आत्मीयता से ग्रहण करता है और जो शेर आत्मीयता पैदा करता है वो सदा के लिए लोक का अंग बन जाता है। ऐसे शेर जनता के दिल-ओ-दिमाग़ पर अमिट छाप छोड़ देते हैं। कवि सूली पर चढ़ने से नहीं घबराता क्योंकि वो तो शहादत है, जो अमर कर देती है—

सूली होती सूली जो   मार न देती ईसा को

विज्ञान अपने हुक्मरानों को समझ जाते हैं और कह उठते हैं—

ऊँचे लोग सयाने निकले   महलों में तहख़ाने निकले
जिनको पकड़ा हाथ समझकर   वो केवल दस्ताने निकले

सीधी-सादी बात इकहरी   हम क्या जानें लहजा शहरी

यहाँ विज्ञान का इशारा उन आभिजात्य, कुलीन और सरमायादारों की ओर है जो अपने से नीचे के लोगों को मनुष्य तक नहीं समझते। समाज के निचले तबक़े के जीवन-संघर्ष को विज्ञान व्रत शिद्दत से महसूस करते हुए कहते हैं—

सीखे भूखे चेहरे पढ़ना   पूरा तंत्र निरक्षर क्यों है
एक सभ्यता गूँगी-बहरी   आकर मेरी बस्ती ठहरी

महानगरीय संस्कृति में व्यक्ति भाग-दौड़ में ऐसा उलझा होता है कि घर और दफ़्तर में फ़र्क़ नहीं कर पाता—

पापा घर मत लेकर आना   रात गये बातें दफ़्तर की

आशय यही है कि विज्ञान व्रत ने पहले ही ग़ज़ल-संग्रह की गजलों से ग़ज़ल-प्रेमियों को अपना मुरीद बना लिया था।

उनका दूसरा ग़ज़ल-संग्रह 'चुप की आवाज़'(1995) की ग़ज़लों पर भी ख़ूब चर्चा हुई। अनेक संकलनों से लेकर लघु पत्रिकाओं में कई बार अपने अंकों व विशेषांकों में ये ग़ज़लें प्रकाशित हुईं। इस संग्रह की विस्तृत भूमिका हिन्दी के वरिष्ठ कवि-गीतकार एवं ग़ज़लकार प्रो. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने लिखी है, जिसमें विज्ञान व्रत के ग़ज़ल-लेखन की गहरी परख व पड़ताल की गयी है। एक जगह वे लिखते हैं कि— ''ये सही है कि उनकी शेरियत वाग्मिता की स्फीति से मुक्त है, उनकी कहन में तक़्रीरी ख़ुसूसियत न होकर एक रेशमी और सांकेतिक पारदार्शिता है। अपने इन्हीं गुणों के फलस्वरूप उनके अधिकांश अश्आर में सूत्र और सूक्त बनने की क्षमता अनायास ही उत्पन्न हो गयी है।'' इस संग्रह की ग़ज़लों में व्यक्ति, समाज और देश के सामने जो अव्यवस्था फैली है उसकी गहरी अभिव्यक्ति हुई है। इस दूसरे संग्रह 'चुप की आवाज़' के ज़रिये विज्ञान व्रत अपनी काव्य क्षमताओं को नयी ऊँचाइयों तक ले जाते हैं। संग्रहीत बहत्तर ग़ज़लों से गुज़रते हुए बार-बार ऐसा लगता है जैसे आप किसी अंतरंग मित्र से बेहद आत्मीय बातचीत कर रहे हैं—

आ चुप की आवाज़ सुनें   चल गूँगे से बात करें

आज के इस गूँगे होते समय की चुप्पी में ग़ज़लकार विज्ञान व्रत का ये शेर बहुत बड़ी बात कह रहा है। व्यक्ति से लेकर समाज और देश से सम्पूर्ण विश्व में जो विकराल समस्या खड़ी है वो है संवादहीनता की। आजकल लोग इतने आत्मकेन्द्रित हो रहे हैं कि किसी को किसी की फ़िक्र नहीं है। भाषा-जाति-धर्म, क्षेत्रवाद और वर्चस्व के नाम पर गूँगे बने लोग लड़ रहे हैं। इस शेर के माध्यम से विज्ञान व्रत का आग्रह है कि चिन्तनशील व सृजनशील वर्ग के बीच ये शेर प्रतिनिधि विचार बनकर हमारी चेतना को उद्वेलित करता रहे। सच्चाई यही है कि हर व्यक्ति आज इसी गूँगे वक़्त से रोज़ाना दो-चार हो रहा है। जीवन की विषम स्थिति पर इसी संग्रह का ये शेर भी पढ़ें—

जीना मरने जैसा है   मेरी बस्ती आकर देख

कब तक एक पता रक्खूँगा   मैं अब ये घर भी बदलूँगा

कमाल तो ये है कि विज्ञान अपनी तरफ़ से कोई बड़ी बात नहीं बोलते, बल्कि किसी बड़ी बात का ऐसा सूत्र पाठक के पास छोड़ देते हैं कि वो शेर उसके पास रह जाता है, उसका आत्मीय हो जाता है और वो शेर के आईने में अपने जीवन को देखने लगता है—

घटना उसके साथ घटे   और लगे मुझको अपनी

सिर्फ़ उजालों से क्या होगा कालिख भी तो पोंछो घर की

वे इतनी सहजता से बिम्ब प्रस्तुत करते हैं कि वो बिम्ब-प्रस्तुति ग़ज़लकार की मूल्यवत्ता बन जाती है। जीवन की विसंगतियों पर जब विज्ञान व्रत अपनी व्यंग्यपूर्ण नज़र दौड़ाते हैं तो हमें आत्मचिन्तन की ओर मोड़ देते हैं।

पिछले कुछ सालों में हिन्दी में कई ग़ज़लकार आये हैं, लेकिन विज्ञान व्रत इस समूह में बिल्कुल अलग खड़े दिखायी देते हैं, क्योंकि उनका लहजा, भाषा, शिल्प-वैशिष्ट्य, बिम्ब-चमत्कार और प्रतीक-विधान अनूठे एवं विलक्षण हैं। नि:सन्देह ऐसे शेर किसी कवि की गहन संवेदना से ही छनकर आ सकते हैं। जीवन की सीधी पकड़ किसी छद्म या शब्दाडम्बर से नहीं हो सकती। बिम्ब ऐसे ही नहीं बोलने लगते। जीवन का सच यूँ ही सजीव नहीं हो पाता है। पिछले संग्रह की ही तरह इस संग्रह में भी 'घर' उपमान की आवृत्ति अधिक है, लेकिन विज्ञान के लिए ये ज़रूरी है क्योंकि

वे मानते हैं कि घर हमारा सच है और ये सच कैसे-कैसे तथा कहाँ-कहाँ हमें जीवनानुभूति प्रदान कर सकता है। ये देखने की बात है—

तुम हो तो ये घर लगता है   वरना इसमें डर लगता है

यहाँ किसी आत्मीय की उपस्थिति घर का पर्याय बन गयी है—

मैं कुछ बेह्तर ढूँढ़ रहा हूँ   घर में हूँ घर ढूँढ़ रहा हूँ

मैंने ख़ुद को ढूँढ़ा है   ख़ुद में गुम हो जाने तक

'ढूँढ़' शब्द की जो आवृत्ति इनकी ग़ज़लों में बार-बार होती है, वो रचनाकार की शाश्वत तलाश का प्रमाण देती है। उनकी इसी तलाश की सकारात्मक परिणति उनके इस शेर में हुई है—

उसका अम्बर-ही-अम्बर था एक दिशा थी और सफ़र था

यद्यपि विज्ञान व्रत अपनी रचनाओं में तनाव, प्रतिकार या कहें विद्रोही भावों से बचते हैं। हो सकता है वे समझते हों कि ग़ज़ल एक मृदुल काव्य-विधा है, जहाँ गुफ़्तगू या बातचीत के अन्दाज़ में आत्मीयता का भाव कभी खण्डित नहीं होना चाहिए। इसीलिए अपनी बात कहने के लिए वे ग़ज़ल में नयी सम्भावनाएँ तलाशते ज़ियादा दिखायी देते हैं। कभी तो इस प्रयास के विलक्षण प्रभाव भी नज़र आये हैं—

मैं खिड़की वो परदा है   देखो तो क्या रिश्ता है

आम आदमी के नगरीय जीवन की जद्दोजहद पर ये शेर कितनी बड़ी विडम्बना का खुलासा कर देता है—

घर हो जाने की ख़्वाहिश में   इस घर का सामान रहा हूँ

वहीं फैलते महानगरों के तथाकथित विकास की कलई खोलते उनके इस शेर को भी देखें—

एक शहर हो जाने में   कितने गाँव मरे होंगे

हमारे समाज में बढ़ते साम्प्रदायिक विद्वेष पर उन्होंने कितने मार्मिक शेर कहे हैं, जहाँ धर्म को निरन्तर धन्धे में तब्दील किया जा रहा है—

घर के आगे पूजाघर है   देखो उनको कितना डर है

बच्चे भूले शैतानी   ऐसा कौन घरों में था

मज़हब कर्ज़ वसूलेगा   लेगा और लहू लेगा

इतनी नफ़रत, अलगाव और जीवन की अनेक विद्रूपताओं के बीच आदमी की अस्मिता व पहचान के लिए विज्ञान व्रत की छटपटाहट मह्सूस की जा सकती है। वो सतत अपनी परम्परा, अपनी संस्कृति और अपनी पहचान की खोज में कबीराना अन्दाज़ में गुम रहना चाहते हैं—

बरसों ख़ुद से रोज़ ठनी   तब जाकर कुछ बात बनी

ये स्पष्ट कि इस संग्रह की ग़ज़लें पिछले संग्रह की बनिस्बत अधिक चेतना-सम्पन्न और ऊर्जावान हैं। इनका तीसरा ग़ज़ल-संग्रह 'जैसे कोई लौटेगा' सन् 2001 में हिन्दी के बहुचर्चित कवि व ग़ज़लकार कुबेर दत्त की उस भूमिका के साथ आया जिसमें उन्होंने विज्ञान व्रत को न केवल छोटी बह्र का बड़ा ग़ज़लकार घोषित किया, बल्कि उन्हें हिन्दी के अलग रंग के शायर के रूप में विवेचित भी किया। इस महत्त्वपूर्ण भूमिका में उन्होंने विज्ञान व्रत की ग़ज़लों की अनेक विशिष्टताओं की चर्चा की है। कुबेरदत्त कहते हैं कि— ''हिन्दी ग़ज़ल के समकालीन परिदृश्य में कई नाम हैं, लेकिन जिस एक अकेले ग़ज़लगो पर कहने के लिए ग़ज़ल के नगर की लगभग परिक्रमा मैंने की,

वो है विज्ञान व्रत, जिसकी ग़ज़ल का मकान ग़ज़ल के नगर में अलग ढंग का है।'' वे आगे कहते हैं— ''धारदार व्यंग्य विज्ञान व्रत की ग़ज़लों की बड़ी विशेषता है''। ''विज्ञान व्रत का अन्दाज़े-बयाँ यक़ीनन् कुछ और है, उनके यहाँ भाषा जैसे एक सधा हुआ मुहावरा बनकर आती है। इसीलिए उनके यहाँ शुद्ध शास्त्रीयता का ढकोसला भी सिरे से ग़ायब है। उन्होंने अपने पद और छन्द विकसित किये''। ''विज्ञान व्रत चित्रकार भी हैं ग़ज़लकार भी, लेकिन शौक़िया वे क़तई नहीं हैं। मुझे नहीं मालूम उनके चित्रकार होने ने उनकी ग़ज़ल को साधा है या ग़ज़लगो होने ने उनकी चित्रकला को साधा है, मगर दोनों में कोई तअल्लुक़ ज़रूर है। ऐसा मेरा विश्वास है''। ''विज्ञान व्रत हिन्दी के क़तई अलग रंग के शायर हैं। जो बीज-तत्त्व उन्हें अपने समकालीनों से अलगाते हैं उनमें सबसे अहम है उनकी सादगी; जटिल, संश्लिष्ट और उलझी हुई ज़िन्दगी के पेच वे इस सरलता से खोल देते हैं कि हैरत होती है''। ''विज्ञान व्रत ऐसे शायर हैं जिन्हें वक़्त गढ़ता है, वक़्त रचता है। विज्ञान का शायर तक्लीफ़ से पैदा हुआ है, किसी गहरी टीम से जन्मा है।''

जैसा मैंने पहले ज़िक्र किया था। विज्ञान व्रत एक शाश्वत तलाश में रहते हैं। एक शेर में तो वे उस चादर की तलाश में मिले जो उनके क़द के साथ बढ़े। इसी स्तर के कुछेक शेर यहाँ ध्यातव्य हैं—

दरवाज़े पर बैठा हूँ   जैसे कोई लौटेगा

उनसे तो अब क्या पूछँगा   मैं ख़ुद को ख़ुद ही ढूँढूँगा

पहचानी आवाज़ लगी   शायद कोई अपना है

मेरे क़द के साथ बढ़े   ऐसी चादर ढूँढ़ रहा हूँ

जब कभी किसी शेर में कुछ अव्यक्त रह जाता है तो वो शेर एक गूँज की तरह लम्बे समय तक पाठक के मन में बरक़रार रहता है। उपरोक्त शेर में ये अव्यक्तता मौजूद है। इनकी ग़ज़लों में झाँकने के लिए ये शेर वे झरोखे हैं जहाँ से इनके अंतस को जाना और समझा जा सकता है—

मुझको घर तक छोड़ गया   जो भी था अपना ही था

रिक्शेवाले का सपना   उसका अपना रिक्शा हो

भूमण्डलीकरण ने सबकुछ बाज़ार में तब्दील कर दिया है, जिसमें आम आदमी यूँ बेबस और निरीह हो गया है कि—

सारा आलम मजमें जैसा   मैं हूँ एक जमूरे जैसा

इस संग्रह का सर्वश्रेष्ठ शेर या कहूँ कि विज्ञान के उत्कृष्ट शेरों में से ये मेरा सर्वप्रिय शेर है—

गद्दी का वारिस लौटा था   राम कहाँ लौटे थे वन से

इसी तरह की अपनी सोच और चिन्तन की व्यापकता का परिचय देते हुए विज्ञान कहते हैं कि—

पल भर में क्या समझोगे   मैं सदियों में बिखरा हूँ

मेरा मानना है कि सूक्ति की तरह ये शेर भविष्य में हर ज़बान पर रहेगा—

सबसे मुश्किल काम यही है   ख़ुद को अपने जैसा रखना

इस तरह 'जैसे कोई लौटेगा' संग्रह विज्ञान व्रत की शायरी को उस क्षितिज तक विस्तार देता है जहाँ उनकी ग़ज़लों में सामाजिक सरोकार स्पष्ट होकर सामने आने लगते हैं। इस तीसरे ग़ज़ल-संग्रह तक आते-आते यथार्थ के प्रति उनकी बेचैनियाँ कम नहीं होती हैं, बल्कि और बढ़ जाती हैं यहाँ वे उम्मीदों के साथ अपनी वही बेचैनियाँ व्यक्त करते हैं जो उनके चौथे संग्रह में और मुखर होती गयी हैं।

सन् 2005 में जब चौथा ग़ज़ल–संग्रह 'तब तक हूँ' आया तब तक विज्ञान व्रत अपना एक विस्तृत पाठक–वर्ग बना चुके थे, सो ये संग्रह हाथो–हाथ लोगों में पहुँचा और ग़ज़ल की दुनिया में अधिक तेज़ गूँज के साथ फैल गया। प्रख्यात् कवि और समीक्षक दिनेश मिश्र ने अपनी भूमिका के द्वारा इस संग्रह की ग़ज़लों की उन बारीकियों को उजगार किया है, जिनके सहारे विज्ञान व्रत की पूरी शायरी को समझा और जाना जा सकता है। वे कहते हैं कि– ''विज्ञान व्रत की ग़ज़लों को पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे किसी दोस्त के साथ बीत रहे अंतरंग क्षण हों। बातों–ही–बातों में ज़िन्दगी की तस्वीर उभरती जाती है, आदमी का वर्तमान और वर्तमान का संघर्ष साफ़ दिखने लगता है। जो बात कभी नहीं भूलती वो है विज्ञान व्रत का खुला ऐलान कि–

आमादा हूँ जीने पर   और अभी तक ज़िन्दा हूँ''

क्या कहने! इस शाश्वत जीवन की इससे बेहतर परिभाषा और क्या हो सकती है। इस तरह 'तब तक हूँ' संग्रह की ग़ज़लें इनकी संघर्षशीलता की उद्घोषणा करती हैं कि– *सब तक हूँ / तब तक हूँ*/ लोक के लिए, समाज के लिए, समस्त मानव–जाति के हित में ये समर्पण एक बड़े कवि होने का परिचायक है। समाज के सबसे निचले तब्क़े के सबसे अन्तिम व्यक्ति के एहसास से ये जुड़ाव विज्ञान व्रत को बड़ा रचनाकार बनाता है। इस संग्रह की अधिकांश ग़ज़लें वास्तव में उनके इस जुड़ाव का ही समूहगान है। जीवन पर विश्वास की ये दृढ़ता भी इस संग्रह में जगह–जगह मुखरता से अभिव्यक्त हुई है। इसीलिए ये ग़ज़ल–संग्रह समकालीन ग़ज़ल–साहित्य के महत्त्वपूर्ण संग्रहों में शुमार हुआ है। ग़ज़ल का दूसरा शेर शीर्षक–शेर की यूँ तस्दीक कर रहा है। इसे दोबारा देखें–

सब तक हूँ   तब तक हूँ / तब तक हूँ   जब तक हूँ

इसी तरह दूसरी ग़ज़ल में आज के आदमी के जीवन से सरोकार का ये शेर उल्लेखनीय है–

आपसे रिश्ता रहा और मैं ज़िन्दा रहा

इसी संग्रह की एक ग़ज़ल में जीवन का जो संघर्ष व्यक्त हुआ है वो प्रशंसनीय है, उसका एक शेर देखें–

ख़ुद को अपने कन्धों पर   बस्ती–बस्ती ढोते हम

एक और ग़ज़ल का ये शेर अभावग्रस्त किसान की त्रासदी का तक्लीफ़देह मंज़र पेश कर रहा है–

होरी सोच रहा है उसका   नाम यहाँ किस दाने पर है

अगली ही ग़ज़ल में फिर उनकी चिन्ता और जीवन से मुक़ाबले के लिए ख़ुद में शक्ति एकत्रित करने का संकल्प प्रेरक है। यहाँ मुझे कबीर के आत्ममन्थन के विचार की गूँज सुनायी देती है–

जिस दिन ख़ुद को देख सकेगा   अपने ऊपर आप हँसेगा

कौन करेगा ये अहसान   ख़ुद ही कर अपनी पहचान

पहले ख़ुद से तो निबटूँ   फिर इस दुनिया को देखूँ

राजनीति ने जनता को कब से भ्रमित कर रखा है। इसके ख़िलाफ़ प्रतिवाद से भरी एक ग़ज़ल के चन्द अश्आर पेश हैं–

जैसे बाज परिन्दों में   मेरा क़ातिल अपनों में
अब इंसानी रिश्ते हैं   सिर्फ़ कहानी क़िस्सों में

वो सितमगर है तो है   अब मेरा सर है तो है
जो हमारे दिल में था   अब ज़बाँ पर है तो है

शेर–दर–शेर विज्ञान व्रत एक ऐसा मंज़र रचते हैं कि पाठक ख़ुद को एक नये वितान में रमा हुआ पाता है।

ये दो शेर भी मुलाहिज़ा फ़रमायें—

लापता हूँ आपको क्या   मिल गया हूँ आपको क्या

ख़ुश हूँ अपनी बस्ती में बाक़ी दुनिया तुम रक्खो

संवेदन-शून्य वर्ग को सम्बोधित ये कतिपय शेर ग़ज़लकार के क़द्दावर व्यक्तित्व का प्रमाण हैं—

आमादा हूँ जीने पर   और अभी तक ज़िन्दा हूँ

लड़ रहा हूँ जीतना है   ज़िन्दगी का मोर्चा है

कहा जाता है कि वही रचनाएँ श्रेष्ठ होती हैं जिनमें अनुभूतिगत सत्य विद्यमान होता है। स्पष्ट है कि इस संग्रह तक आते-आते विज्ञान व्रत की ग़ज़लें उनके दृढ़ व्यक्तित्व को उजागर ही नहीं करती, बल्कि अपने अनुभूतिगत सत्य के ज़रिऐ समाजगत चिन्ताओं से मुठभेड़ भी करती हैं। ये उनकी रचनात्मकता के विस्तार का परिचायक है।

किसी रचनाकार की श्रेष्ठता की कसौटी भी यही होती है कि वो व्यष्टि से समष्टि तक की यात्रा किस तरीक़े से करता है । 'मैं', 'तू', 'हम' और 'वो' सम्बोधनों के माध्यम से विज्ञान व्रत ने 'बाहर धूप खड़ी है' से लेकर 'तब तक हूँ' के दरमियान जिस तरह से भावाभिव्यक्ति की है वो व्यष्टि से समष्टि की पूरी यात्रा कराती है। ग़ज़ल के शिल्प में छोटी बह्र में ग़ज़ल कहना आसान नहीं होता है। ये बात हर ग़ज़लकार जानता है, मगर हैरानी की बात है कि विज्ञान सिर्फ़ छोटी बह्र में ही शेर कहते हैं। शायद ये उनका स्थायी शिल्प बन गया है। छोटी बह्र के प्रति उनकी एकाग्रता हमें चकित करती है। एक तरह से वे ग़ज़ल के शिल्प में ख़त्रा उठाने का साहस करते हैं। एक विशेष शिल्प में अपनी सम्पूर्ण रचनात्मकता को समेटना न केवल कठिन होता है, बल्कि जोखिम भरा भी होता है, क्योंकि जब रचनाकार की कोई स्थायी शैली बन जाती है तब रचना का प्रभाव क्षीण होने लगता है और पाठक में एक ऊब पैदा होने लगती है। अत: रचनाकार में शैली-वैशिष्ट्य के स्थान पर शैली-वैविध्य भी वांछनीय होता है। महान् से महान् रचनाकार ये वैविध्य बनाये रखना चाहता है। सम्भव है कि विज्ञान व्रत चित्रकला के माध्यम से ये शैली-विस्तार पूरा कर पाते हैं। इस तरह उत्कृष्ट चित्रकार व ग़ज़लकार के रूप में जीवन की बहुआयामी अभिव्यक्ति और उतनी ही श्रेष्ठ ग़ज़लें कहते हुए विज्ञान का व्यक्तित्व कृतित्व में तब्दील हो जाता है, क्योंकि ये चित्र और ग़ज़लें उनके यथार्थबोध की उत्कृष्ट उपज हैं, जो पूरे तग़ज़्ज़ुल के साथ संवेदना और विचार का बेह्तरीन सम्मेल प्रस्तुत करती हैं। हिन्दी-ग़ज़ल के अध्येता और प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी ग़ज़ल : दुष्यन्त के बाद' के लेखक ज्ञानप्रकाश विवेक ने विज्ञान व्रत की ग़ज़लों पर विस्तार से कहा है— ''विज्ञान व्रत की छोटी बह्र की ग़ज़लों के अश्आर बड़ी सादगी से कहे गये प्रतीत होते हैं, लेकिन इनमें मनुष्य का द्वन्द्व भी किसी कल्पना की तरह मौजूद रहता है। छोटी बह्र में 'थॉटफुलनेस' का होना ज़रूरी होता है और वही विचार की शक्ति दो छोटी-सी पंक्तियों को बड़े अश्आर के मुक़ाबिल खड़ा होने का जज़्बा देती है। तीसरी बात चिन्तन की है। विज्ञान अपने अश्आर में अनुभव और चिन्तन के मिलाप से कंटैंट की जो ज़मीन तैयार करते हैं वो न केवल परिपक्व व ठोस होती है, बल्कि दो छोटे-से मिस्रे शेर की सूरत में गूँजने भी लगते हैं। यदाकदा विज्ञान व्रत जब व्यंग्य के माध्यम से मनुष्य की पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं तो वो शेर ज़बान का शेर बन जाता है। मस्लन्-

आख़िर मुझमें ऐसा भी   क्या देखा है जो चुप हो

साथ ही ये शेर भी कि—

बात करते हैं हमारी   जो हमें समझे नहीं हैं

इस तरह तग़ज़्ज़ुल या ग़ज़लियत हर ग़ज़लकार में अपने ही ढंग से आती है। मीर, ग़ालिब में या

अन्य किसी बड़े शायर की शायरी से ये साफ़ हो जाएगा। विज्ञान ने ग़ज़ल की इस विशेषता को समझा है। उनमें शिल्पगत प्रयोगों द्वारा ज़मीन तोड़ने का साहस सर्वत्र दिखायी देता है और इस अर्थ में वे एक सृजनशील रचनाकार हैं। ऐसा आत्मनिष्ठ भाव समाज को अपने भीतर गहराई से आत्मसात् करने के बाद ही सम्भव होता है। यही कारण है कि ये भाव उनकी रचनाओं में इतना रच-बस गया है कि ग़ज़लकार अपने समय से सदैव बतियाता हुआ मिलता है। विज्ञान कविता में आते-जाते वैचारिक आन्दोलनों या तथाकथित वाद या विचारधाराओं से कभी भ्रमित नहीं हुए। वे अपनी दृष्टि व नये संकल्पों और मानवीय भावबोध के साथ ग़ज़ल प्रस्तुत करते रहे। हाँ ये बात ज़रूर खटकती है कि विज्ञान व्रत के कतिपय शेर एक-दूसरे को काटते हुए से मिलते हैं। इसके कुछेक उदाहरण पेश हैं। पहले संग्रह का शीर्षक-शेर—

बाहर धूप खड़ी है कब से   खिड़की खोली अपने घर की

लेकिन इस विचार को काटता हुआ एक शेर ये भी है कि—

सिर्फ़ उजालों से क्या होगा   कालिख भी तो पोंछो घर की

दूसरा

अपने घर में बैठे हो   यार सुनो तुम अच्छे हो

स्वाभाविक रचना-प्रक्रिया में अक्सर ऐसा होता है, जहाँ भिन्न-भिन्न मूड्स अपने तमाम अन्तर्विरोधों के साथ उपस्थिति होते हैं। कभी-कभी तो एक ही कथ्य के एकाधिक शेर संग्रह में मिल जाते हैं। वास्तव में देखना ये चाहिए कि रचनाकार अपने भीतरी सत्य के प्रति कितना ईमानदार है। हाँ, ये अवश्य है कि जहाँ-जहाँ विज्ञान व्रत अपने आस-पास से उदासीन होते हैं वहाँ रचना का यथार्थ उखड़ने लगता है और वहीं ये सवाल उठते हैं कि क्या ग़ज़लकार समकालीन परिस्थितियों से अनभिज्ञ है या जानबूझकर तटस्थ रहना चाहता है। उसके सरोकार किसके प्रति हैं, मस्लन् अपने देश के किसानों की बढ़ती आत्महत्याएँ, स्त्रियों पर बढ़ती हिंसा, ग़रीबों-मज़्दूरों का शोषण या आदिवासियों की अपनी ज़मीनों से बेदख़ली या प्रकृति का अन्धाधुन्ध दोहन जैसी समस्याओं से उसकी ग़ज़लें रू-ब-रू हो पा रही हैं कि नहीं। यद्यपि प्रकृति की जीवन्तता की अभिव्यक्ति उनके चित्रों में हुई है, लेकिन अन्य विषय उनकी ग़ज़लों से अभी चूक रहे हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि विज्ञान व्रत सायास ही समसामयिक सन्दर्भों को रचना का विषय बनाने से गुरेज़ करते हैं। यद्यपि उनके शेरों में सूक्तियाँ हैं, सन्देश हैं, मश्विरे हैं, मूल्यवान सीख हैं, मगर वर्तमान को लेकर कोई प्रश्न नहीं है, समस्याएँ नहीं हैं, द्वन्द्व नहीं है। इनमें से वो व्याकुलता भी नदारद है जो मनुष्य की नियति है, रचनाकार का सरोकार है और जीवन संघर्ष का मूलाधार है; जिसके प्रति कवि का रुज्हान न होना उसकी समकालीन स्थितियों के प्रति उदासीनता का द्योतक है। आज के कवि के सरोकार आमजन से जुड़े होने चाहिए। आज का कवि संत की तरह दूर मंच पर बैठकर प्रवचन नहीं देता, बल्कि वो आमजन की तरह समाज में रहता है और वो जो भोगता है उसकी ही अभिव्यक्ति करके आम आदमी के साथ 'शेयर' करता है।

शिल्प की दृष्टि से विज्ञान व्रत की ग़ज़लें साफ़-सुथरी और नयापन लिये हैं। विज्ञान व्रत ग़ज़लों में शब्दों की मितव्ययिता के लिए मश्हूर हैं। ग़ज़ल में शब्दों को सलीक़े से पेश करना दृष्टि-सम्पन्न ग़ज़लकार की पहचान है। चारों ग़ज़ल-संग्रहों में ऐसी अनेक ग़ज़लें हैं, जिनमें केवल मत्ले ही मत्ले हैं कोई शेर नहीं है। इसी तरह कभी मत्ले की एक पंक्ति से अगला शेर निकाला गया है जो चमत्कारिक है। इन प्रयोगों के आवेग में कभी-कभी उनकी संवेदनात्मक अनुभूति उनके दो छोटे-छोटे मिस्रों में नहीं समा पाती और वे मिस्रे बिखर जाते हैं। यद्यपि उनकी बह्रों की तादाद सीमित है फिर भी उनकी ग़ज़लों के शिल्प में परिपक्वता व प्रौढ़ता स्पष्ट दिखायी देती है। उर्दू-ग़ज़ल के मिज़ाज का सम्मान करते हुए विज्ञान पूरी शालीनता से अपनी ग़ज़लों में नये प्रयोगों का

साहस करते हैं। इन नये बिम्बों के माध्यम से विज्ञान व्रत ने इन ग़ज़लों को अधिक प्रभावपूर्ण बनाया है। इतने प्रयोगों के बावजूद वे हमारा ये विश्वास नहीं टूटने देते कि वे ग़ज़ल के मूल स्वरूप को खण्डित नहीं होने देंगे।

कथ्य के सन्दर्भ में ये बात विशेष ध्यान खींचती है कि विज्ञान के सम्पूर्ण ग़ज़ल–साहित्य में एक भी ऐसा शेर नहीं है जिसमें नारी या पुरुष का भेद किया गया हो, बल्कि सम्पूर्ण ग़ज़लें मनुष्य मात्र या 'व्यक्ति' के भावात्मक संवाद के रूप में प्रस्तुत हुई हैं। भाषा के स्तर पर अन्त में 'इन्द्र' जी की ये टिप्पणी समीचीन है कि– ''विज्ञान की ग़ज़लें जहाँ हिन्दी–उर्दू के विवाद को बेबुनियाद सिद्ध करती हैं वहाँ उसमें ये फ़न भी अपने पूरे उरूज पर है कि सादा तरीक़े से कही गयी बात को भी कैसे एक सूत्र या सूक्ति में तब्दील किया जा सकता है।''

अत: ये सुनिश्चित है कि विज्ञान व्रत ने हमें हिन्दी–ग़ज़ल का नया मुहाविरा दिया है और ग़ज़ल को नये सोपान तक पहुँचाया है, जहाँ पाठक ग़ज़ल से आत्मीय भाव बनाता है और उसे अपना लेता है। विज्ञान के पास अपने अनुभव को ग़ज़ल में प्रस्तुत करने का प्रयास उर्दू–ग़ज़ल से बिल्कुल भिन्न है। मस्लन् उर्दू–शायर अक्सर परम्परागत प्रतीकों व बिम्बों के जाल में अपनी शायरी का आश्रय तलाशते हैं, वहीं विज्ञान व्रत इस शैली से अलग अभिव्यक्ति के खुले आँगन में बैठकर वक़्त से बतियाते हैं और 'मैं', 'तू', 'वो' और 'जो' के माध्यम से नये सन्दर्भ तलाशते हैं। प्रो. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जी का इस सन्दर्भ में भी कथन यहाँ ग़ौरतलब है कि– ''उनकी ग़ज़लों में 'मैं' का अर्थ 'मैं' नहीं रह पाता और न 'तुम' का अर्थ 'तुम'। 'तुम', 'मैं' और 'वो' यहाँ एकमेव हो जाते हैं। इस प्रकार वो 'इदम्' और 'अहम' के शिखरों पर एक ऐसा जादुई और दिलकश सेतु बाँध देता है कि देखते ही बनता है।''

मुझे पूरी उम्मीद है कि इनकी ग़ज़लें हिन्दी–कविता में एक सार्थक गूँज बनकर उपस्थित रहेंगी और हिन्दी-ग़ज़ल को निरन्तर समृद्ध करेंगी।

लेखकों से निवेदन

'ग़ज़लकार' मात्र ग़ज़लों पर आधारित एक छमाही पत्रिका है, यही वज्ह है कि इसमें सिर्फ़ ग़ज़लों से ही सम्बन्धित सामग्री को स्थान दिया जा रहा है, नज़्मों आदि को नहीं। ऐसा किसी विशेष आग्रह या दुराग्रह के कारण नहीं है, बल्कि ग़ज़ल के साथ पूरी सुपुर्दगी के कारण है। आप हमारी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए अगर किसी भी प्रकार की सामग्री भेजेंगे तो ये आपका विशेष सहयोग होगा—

i) यदि किसी ऐसे शायर पर कोई सामग्री प्राप्त होती है जो नज़्म और ग़ज़ल दोनों में पहुँच रखता हो तो हमारी प्राथमिकता उसके ग़ज़लवाले पहलू पर ही अधिक होगी।

ii) शायरों पर किसी भी प्रकार की सामग्री स्वीकार की जायेगी, मस्लन्— इण्टरव्यू, जीवनी, आलोचना, आत्मकथा, यात्रा-वृत्तान्त, संस्मरण, डायरी-लेखन आदि। मौलिक, लिप्यन्तरित, अनूदित(अनुवादित)— किसी भी प्रकार की सामग्री स्वीकार की जायेगी। मौलिक होने की स्थिति में मौलिकता का प्रमाण-पत्र साथ भेजें (यदि रचना पूर्व में प्रकाशित हुई है तो उसका सम्पूर्ण विवरण छायाप्रति के साथ संलग्न करें।)। यदि सामग्री लिप्यन्तरित-अनुवादित है तो मूल की छायाप्रति साथ ज़रूर भेजें।

iii) कोई भी सामग्री आप हिन्दी(देवनागरी लिपि) या उर्दू(फ़ार्सी लिपि) में भेज सकते हैं, इतना ख़याल अवश्य रहे कि लिखावट बहुत घसीट न हो, उर्दू में तो ख़ास तौर से। किसी भी प्रकार की सामग्री में उल्लिखित उद्धरण, पुस्तक-अंश, कथन आदि का यथासम्भव सन्दर्भ अवश्य दें।

iv) हम नामी-गिरामी शायरों के साथ-साथ उन शायरों को भी विशेष महत्त्व देते हैं जो अपेक्षाकृत कम चर्चा में रहे हैं, इसलिए आप अपने क्षेत्र या अपनी जानकारी के किसी भी नये-पुराने या कम चर्चित शायर पर भी सामग्री भेज सकते हैं।

v) ग़ज़ल के व्यापक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए इससे किसी भी रूप में जुड़े व्यक्तित्वों अथवा विषय-वस्तु को स्थान दिया जायेगा, जैसे— ग़ज़ल-गायक का मूल्यांकन(क़व्वाली, गायकी की एक विशेष विधा है न कि कोई अलग से सिन्फ़े-सुख़न। क़व्वाली में भी ग़ज़ल का ही गायन होता है, इसलिए क़व्वाली-गायकों पर भी सामग्री स्वीकार की जायेगी।), ग़ज़ल पर आधारित किसी फ़िल्म या धारावाहिक की समीक्षा, ग़ज़ल पर आधारित किसी समारोह या कार्यक्रम की रिपोर्टिंग आदि।

vi) यदि ग़ज़ल पर आधारित किसी किताब (ग़ज़ल-संग्रह, आलोचना, शोध, सम्पादित-अनूदित संग्रह आदि) की समीक्षा भेजें तो उसकी एक प्रति साथ में अवश्य भेजें। यदि आप चाहते हैं कि 'ग़ज़लकार' की तरफ़ से किसी पुस्तक का मूल्यांकन-समीक्षण किया जाय तो सम्बन्धित किताब की दो प्रति भेजें।

vii) प्रत्येक अंक में मात्र दो शायरों की ही ग़ज़लें प्रकाशित होंगी— एक माज़ी के दरीचे से और एक अहदे-हाज़िर से। शायरों का इन्तख़ाब विशेष परामर्श-मण्डल द्वारा किया जाता है।

viii) रचनाकारों को किसी प्रकार का पारिश्रमिक देने की स्थिति अभी नहीं है। प्रकाशित होने पर लेखकीय प्रति अवश्य भेजी जायेगी। समस्त प्रकार की सामग्री सम्पादकीय पते पर डाक से अथवा ई-मेल से भी भेज सकते हैं।

सुल्तान अहमद
ए - 9, सिलिकॉन एवेन्यू, सैयदवाड़ी,
वटवा, अहमदाबाद - 382440
मो.- 09979451243

सुल्तान अहमद समकालीन आलोचना के ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व हैं जो गद्य तथा पद्य दोनों में एक साथ सक्रिय हैं। इनकी आलोचना-दृष्टि का संधान अत्यन्त व्यापक है। हिन्दी-कविता, कथा-साहित्य की आलोचना, हिन्दी-ग़ज़ल की आलोचना एवं रचना इनकी सक्रियता के प्रमुख क्षेत्र हैं। 'कलंकित होने से पूर्व ', 'उठी हुई बाँहों का समुद्र', 'दीवार के इधर-उधर' इनके कविता-संग्रह हैं तथा 'ख़ामोशियों में बन्द ज्वालामुखी ', 'नदी की चीख़ ' इनके ग़ज़ल-संग्रह हैं। इनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर एक पुस्तक भी सम्पादित हो चुकी है। इस समय 'सरसपुर आर्ट्स एण्ड कॉमर्स कॉलेज', अहमदाबाद में एसोसिएट प्रोफेसर हैं।

दुष्यन्तकुमार पर आधारित ये लेख पत्रात्मक शैली में लिखा गया है। ये लेख अपनी शैली के ही कारण विशिष्ट नहीं है, बल्कि अपने उठाये गये प्रश्नों और जिज्ञासाओं के कारण भी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः लेख का उद्देश्य दुष्यन्तकुमार की त्रुटियों और कमियों को गिनाना नहीं है, बल्कि इस बहाने हिन्दी-ग़ज़ल के अन्तर्विरोधों को उद्घाटित करना है। दुष्यन्तकुमार द्वारा कही गयी बातों और रचनाओं में अन्तर्विरोधों या विरोधाभासों पर अलग से बहसें की जा सकती हैं और पक्ष-विपक्ष में तर्क दिये जा सकते हैं।

सुल्तान अहमद

दुष्यन्तकुमार के नाम एक पत्र

आदरणीय दुष्यन्तकुमार जी !

अपनी ग़ज़लों की किताब 'साये में धूप' की भूमिका 'मैं स्वीकार करता हूँ'– में आपने पहला जुम्ला लिखा है– 'कि ग़ज़लों को भूमिका की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए, लेकिन एक कैफ़ियत इनकी भाषा के बारे में ज़रूरी है।' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 259)

भाषा का मामला पेचीदा है, इसलिए उसे बाद में छेड़ेंगे। पहले 'भूमिका' की भूमिका समझ लें। कुल मिलाकर आप कहना ये चाहते थे कि मेरी 'भूमिका' 'भूमिका' नहीं है, 'कैफ़ियत' है। जैसे 'आज के गीतकार' नीरज कह रहे हों, 'चूड़ी नहीं, ये मेरा दिल है।' नीरज पकड़ा रहे हैं 'चूड़ी' और बता रहे हैं 'दिल'। आप लिख रहे हैं 'भूमिका' और बता रहे हैं 'कैफ़ियत'। कुल मिलाकर आप दोनों ने 'अपह्नुति अलंकार' का इस्तेमाल किया है।

इसी 'अपह्नुति' का इस्तेमाल 'नये कवि' रघुवीर सहाय ने भी अपनी एक कविता में किया था, जिसे 'सपाटबयानी' की मिसाल बताते हुए नामवर सिंह ने कहा था– ''यह भी एक विडम्बना ही है कि जिस समय कुछ अध्यापक अपनी आधुनिकता प्रमाणित करने की आतुरता में अपने पिछड़ेपन की झेंप मिटाने के लिए 'काव्य बिम्ब' पर विचार करने की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं, काव्य–सृजन बिम्ब के दायरे से निकलकर एक ख़ास तरह की सपाटबयानी की ओर अग्रसर हो रहा है— 'प्रिय पाठक/ ये मेरे बच्चे हैं/कोई प्रतीक नहीं। और इस कविता में/मैं हूँ मैं। कोई रूपक नहीं/यह मैं खड़ा हूँ। भरा–पूरा एक आदमी।' (कविता के नये प्रतिमान, पृ. 118-119)

मुझे आपकी 'भूमिका' की तुलना 'नये कवियों' में से एक रघुवीर सहाय से न करके 'आज के गीतकारों' में से एक नीरज से करनी पड़ी, इसका मुझे दुख है। क्या इसके पीछे आपकी 'भूमिका' नहीं थी? मौक़ा मिला तो इस मस्अले को फिर देखेंगे। यहाँ तो सौ टके का सवाल ये है कि ये 'अपह्नुति' क्या बला है? ये 'प्राचीन काव्यशास्त्र' गढ़ने पर तुला हुआ है। मैं हूँ कि 'प्राचीन काव्यशास्त्र' मेरा पीछा नहीं छोड़ता। समझ में आयें कि न आयें, उसके शब्द मेरा पीछा करते रहते हैं। सच्ची बात ये है कि मैं उनसे बचने की बहुत कोशिश भी नहीं करता। उन्हीं की वज्ह से मुझे नामवर सिंह से ये नसीहत भी सुननी पड़ी थी– 'विश्लेषण में तुमने प्राचीन काव्यशास्त्रीय शब्दावली का काफ़ी प्रयोग किया है। क्या ये तुम्हारे वर्तमान साहित्यिक परिवेश का प्रभाव है? ढंग कुछ कम शास्त्रीय होता तो मेरे जैसे सामान्य पाठक ज़्यादा रुचि से पढ़ते।''(नामवर सिंह का पत्र, दि. 21-12-1995)

इन सारी बातों का कोई मतलब ही नहीं रह जायेगा, अगर मैं आपको याद न दिला दूँ कि अपनी भूमिका में आपने अपह्नुति अलंकार का इस्तेमाल खेल की तरह किया है, जिसे एक तरफ़ से 'खिलन्दड़ापन' बताया जा सकता है, तो दूसरी तरफ़ से 'खिलवाड़' भी कहा जा सकता

है। अब उठाते हैं 'भाषा' की बात। आपने लिखा है ''कुछ उर्दू–दाँ दोस्तों ने कुछ उर्दू–शब्दों के प्रयोग पर एतराज़ किया है। उनका कहना है कि शब्द 'शहर' नहीं 'शह्‌र' होता है, 'वज़न' नहीं 'वज़्न' होता है।''(दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 259)

उन्होंने एतराज़ किया और आपने सफ़ाई देनी शुरू कर दी ''..कि मैं उर्दू नहीं जानता, लेकिन इन शब्दों का प्रयोग यहाँ अज्ञानतावश नहीं, जान–बूझकर किया गया है। ये कोई मुश्किल काम नहीं था कि 'शहर' की जगह 'नगर' लिखकर इस दोष से मुक्ति पा लूँ, किन्तु मैंने उर्दू शब्दों को उस रूप में इस्तेमाल किया है, जिस रूप में वे हिन्दी में घुल-मिल गये हैं। उर्दू का 'शह्‌र' हिन्दी में 'शहर' लिखा और बोला जाता है; ठीक उसी तरह जैसे हिन्दी का 'ब्राह्मण' उर्दू में 'बिरहमन' हो गया है और 'ऋतु' 'रुत' हो गयी है।'' (वही, पृ. 259)

आपको अपनी दलीलों में ख़ामियाँ नज़र नहीं आयी होंगी, लेकिन हैं ज़रूर। आपने कहा है– ''ये कोई मुश्किल काम नहीं था कि 'शहर' की जगह 'नगर' लिखकर इस दोष से मुक्ति पा लूँ ... ।'' यहाँ भी आप का अन्दाज़ 'खेल' का ही है। इसे भी एक तरफ़ से 'खिलन्दड़ापन' तो दूसरी तरफ़ से 'खिलवाड़' समझा जा सकता है। आपकी दलील कितनी पोची थी इसे देखने के लिए आपके इन दो शेरों को देखा जा सकता है, जिनमें 'शहर' लफ़्ज़ का इस्तेमाल किया गया है–

तुम्हारे शहर में ये शोर सुन-सुनकर तो लगता है
कि इंसानों के जंगल में कोई हाँका हुआ होगा (वही, पृ. 262)

ख़ामोश रहके तुमने हमारे सवाल पर
कर दी है शहर भर में मनादी तो लीजिए (वही, पृ. 274)

पता नहीं आपने 'शहर' लिखा था या 'शह्‌र' लेकिन छापनेवालों ने छापा तो 'शहर' ही है। ग़ज़ल की चुटकी भर भी जानकारी रखनेवाला ये जान जायेगा कि यहाँ 'शह्‌र' की जगह अगर 'शहर' पढ़ने की ज़िद करेंगे तो 'बह्‌र' टूट जायेगी। हम फ़ालतू की ज़िद में न पड़कर आपके 'शहर' को 'शह्‌र' करते हुए तक़्तीअ करके देखते हैं–

। ऽ ऽ ऽ, । ऽ ऽ ऽ, । ऽ ऽ ऽ, । ऽ ऽ ऽ
तुम्हारे शह्‌र में ये शोर सुन-सुनकर तो लगता है
। ऽ ऽ ऽ, । ऽ ऽ ऽ, । ऽ ऽ ऽ, । ऽ ऽ ऽ
कि इंसानों के जंगल में कोई हाँका हुआ होगा

इस 'बह्‌र' का नाम 'हज़ज मुसम्मन सालिम' है, जिसके हर रुक्न में मफ़ाईलुन यानी लगागागा (। ऽ ऽ ऽ) पाया जाता है। अगर हम 'शह्‌र' की जगह 'शहर' पढ़ने की ज़िद करेंगे तो इसके एक नहीं, पहले दो रुक्न टूट जायेंगे। दूसरा शेर भी देख लें–

ऽ ऽ ।, ऽ । ऽ ।, । ऽ ऽ ।, ऽ । ऽ
ख़ामोश रहके तुमने हमारे सवाल पर
ऽ ऽ ।, ऽ । ऽ ।, । ऽ ऽ ।, ऽ । ऽ
कर दी है शह्‌र भर में मनादी तो लीजिए

इस 'बह्‌र' का नाम है 'मुज़ारेअ मुसम्मन अख़रब महज़ूफ़'। अगर इसके 'शह्‌र' को 'शहर' करेंगे, तो दूसरा रुक्न 'फ़ाइलात'(ऽ । ऽ ।) की जगह 'मफ़ाईल'(। ऽ ऽ ।) में बदल जायेगा। इससे कौन-सी ख़ामी पैदा हो जायेगी, इसे समझने के लिए 'खिलवाड़' छोड़ना एक ज़रूरी शर्त है।
आप अपने इन दो शेरों में 'शहर' की जगह 'नगर' का इस्तेमाल ज़रूर कर सकते थे–

कहाँ तो तय था चिराग़ाँ हरेक घर के लिए
कहाँ चिराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए (वही, पृ. 261)

इस शहर में वो कोई बारात हो या वारदात
अब किसी भी बात पर खुलती नहीं हैं खिड़कियाँ (वही, पृ. 266)

अगर आप पहलेवाले शेर में 'शहर' की जगह 'नगर' कर देते तो 'नहीं' और 'नगर' के पहले हर्फ़ों 'न' से जो अनुप्रास अलंकार पैदा होता, उससे मौसीक़ी भी कुछ बढ़ जाती। अगर दूसरे वाले शेर में 'शहर' की जगह 'नगर' कर देते तो उससे भी एक फ़ायदा पहुँचता। 'इस' के 'स' और 'शहर' के 'श' के नज़्दीक हो जाने से जो 'तनाफ़ुर' नाम की ख़ामी पैदा हो गयी है, वो दूर हो जाती। 'तनाफ़ुर' को भी 'प्राचीन काव्यशास्त्र' में ही देखना पड़ेगा। 'प्राचीन काव्यशास्त्र' का ये भूत मेरा पीछा नहीं छोड़ता।

आपने अपनी ग़ज़लों में चार जगह 'शहर' लफ़्ज़ का इस्तेमाल किया है, जिनमें से दो जगह उसकी हैसियत 'शहर' की, तो दो जगह 'शह्र' की है। क्या अब भी आप ये दलील देना पसन्द करेंगे कि ''उर्दू का 'शह्र' हिन्दी में 'शहर' लिखा और बोला जाता है...'' ? आपने पचास फ़ीसदी 'शहर' का इस्तेमाल किया है, तो पचास फ़ीसदी 'शह्र' का।

आपने लिखा है, ''......हिन्दी का ब्राह्मण उर्दू में 'बिरहमन' हो गया है ...'' 'ब्राह्मण' सिर्फ़ 'बिरहमन' ही नहीं 'बाभन' भी हो गया है। ब्राह्मण हिन्दी ज़रूर है, मगर 'तत्सम' है। 'तत्सम' यानी 'उसके समान'। यहाँ 'उस' माने 'संस्कृत'। 'बाभन' हिन्दी है, मगर 'तद्‌भव' है। 'तद्‌भव' यानी संस्कृत में से पैदा। किसमें पैदा? हिन्दी में पैदा। 'ब्राह्मण' संस्कृत में पैदा हुआ, लेकिन 'बाभन' हिन्दी में पैदा हुआ। इसीलिए वो ज़ियादा हिन्दी हुआ। 'बिरहमन' भी संस्कृत में न पैदा होकर हिन्दी में ही पैदा हुआ है, इसीलिए वो भी 'ब्राह्मण' से ज़्यादा हिन्दी हुआ। इसी हिसाब से आपकी 'हिन्दी ग़ज़ल' में इस्तेमाल किये गये 'शह्र' को भी देखा जा सकता है। ये अरबी का 'तत्सम' शब्द है। हिन्दी में उस पर पाबन्दी नहीं लगायी जा सकती, मगर इतना तय है कि उसका उद्‌भव 'शहर' कहीं ज़ियादा हिन्दी गिना जायेगा। आपके 'उर्दू-दाँ दोस्त' हज़ार बार 'शहर' बोलते हुए पकड़े जायेंगे, मगर लिखते वक़्त 'शह्र' लिखने की ज़िद ज़रूर करेंगे। आपने पचास फ़ीसद उनकी ज़िद रख भी ली है। इसमें कोई बुराई भी नहीं है। 'शह्र' की बनिस्बत 'शहर' ज़ियादा हिन्दी है, इसलिए हम 'शह्र' का इस्तेमाल करेंगे ही नहीं, ऐसी ज़िद भी अच्छी नहीं कही जायेगी। मुझे शुब्हा ये जा रहा है कि शायद आपको पता ही नहीं था कि आपने अपने दो शेरों में लिखा भले 'शहर' हो लेकिन उनकी अस्ली हैसियत 'शह्र' की थी। आपने लिखा है, ''.... मैंने उर्दू शब्दों को उस रूप में इस्तेमाल किया है, जिस रूप में वे हिन्दी में घुल-मिल गये हैं।'' (वही पृ. 259)

यहाँ आपने 'उर्दू शब्दों' का मतलब लिया है 'अरबी-फ़ारसी शब्द'। सिर्फ़ 'अरबी-फ़ारसी' शब्दों से 'उर्दू' का एक भी जुम्ला पूरा नहीं किया जा सकता। उर्दू के कुछ ऐसे जुम्ले जरूर बन सकते हैं, जिनमें 'अरबी-फ़ारसी' के लफ़्ज़ बिल्कुल न हों। सारे-के-सारे न सही, लेकिन बहुत सारे ऐसे जुम्ले इंशा अल्ला ख़ाँ की 'रानी केतकी की कहानी' और सैयद अनवर हुसैन 'आरज़ू' की किताब 'सुरीली बाँसुरी' में देखे जा सकते हैं। वो 'बहुत सारे' जुमले हिन्दी के लफ़्ज़ों से बने हुए नज़र आयेंगे। हिन्दी लफ़्ज़ों के बिना उर्दू का एक भी जुम्ला पूरा नहीं हो सकता। 'उर्दू-दाँ दोस्त' इतना ही नहीं कि 'अरबी-फ़ारसी' लफ़्ज़ों पर बहुत ज़ोर देते हैं, बल्कि हिन्दी लफ़्ज़ों से बेरुख़ी भी बरतते हैं। हिन्दी के साथ ऐसी ही बेरुख़ी 'हिन्दी-दाँ दोस्त' भी बरतते हैं। अगर ऐसा न होता तो आप हिन्दी शब्द 'बाभन' और 'बिरहमन' को छोड़कर संस्कृत के शब्द 'ब्राह्मण' को बेहिचक हिन्दी न बताते। 'बाभन' और 'बिरहमन' ने हिन्दी बनने के लिए अपना चोला ही बदल डाला और 'ब्राह्मण' ने हिन्दी का अमृत पीने के लिए राहु की तरह सिर्फ़ हिन्दी में घुसपैठ भर की। अब आ गया है, तो रहे, लेकिन 'बाभन' और 'बिरहमन' का मर्तबा उसकी बनिस्बत ज़ियादा होगा, इसमें कोई शुब्हा

नहीं।

आप कहते हैं— ''.... उर्दू और हिन्दी अपने-अपने सिंहासन से उतरकर जब आम आदमी के पास आती हैं, तो उनमें फ़र्क़ कर पाना बड़ा मुश्किल होता है। मेरी नीयत और कोशिश ये रही है कि इन दोनों भाषाओं को ज़्यादा-से-ज़्यादा क़रीब ला सकूँ। इसलिए ये ग़ज़लें उस भाषा में कही गयी हैं, जिसे मैं बोलता हूँ।''(वही, पृ. 259) 'उर्दू और हिन्दी अपने-अपने सिंहासन' पर जब चढ़ी रहती हैं, तब ही 'उनमें फ़र्क़ कर पाना' कहाँ आसान होता है? फ़र्क़ होगा कैसे? हैं तो दोनों एक ही। जब ये बोलचाल के बहाव के बाहर के फ़ारसी-लफ़्ज़ों और उसके ग़ैरज़रूरी अत्फ़ और इज़ाफ़त की ज़ंजीरों या बोलचाल के बहाव के बाहर के संस्कृत के शब्दों और उसके बेकार के समासों की कड़ियों में बँधी भचक-भचककर चलती हैं, तभी उनमें फ़र्क़ दिखायी देता है। अस्लियत ये है कि फ़र्क़ तो उनमें तब भी नहीं होता। होता सिर्फ़ ये है कि भचक-भचककर चलनेवाली वो चीज़ें ख़राब ज़बान की मिसालें होती हैं। अब ऐसी चीज़ें मिर्ज़ा ग़ालिब में हों या सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' में, इससे बहुत फ़र्क़ नहीं पड़ता।

आपने कहा— ''.... ये ग़ज़लें उस भाषा में कही गयी हैं, जिसे मैं बोलता हूँ।'' (वही, पृ. 259) ये बात पूरी तरह सही नहीं कही जा सकती। आपसे पूछा जाता कि आपने शायरी के सिवा 'तीरगी', 'अलामात', 'सुआ'(सुग्गे के लिए), 'होमो-हवन', 'मह्वे-ख़्वाब', 'रौज़नों' 'विरूपित', 'सिकता', 'मानूस', 'आरिज़ो-रुख़्सार', 'जज़्ब-ए-अम्जद', 'सफ़ीलों', 'ऋतम्बरा' (ऋतंभरा), बूँदो-बारिश', 'तह्ज़ीबो-तमद्दुन', 'अज़्मते-मुल्क', 'मर्कज़े-बाम', 'तिश्नालब', 'पाबन्दी-ए-मज़हब' और 'बरगश्ता' जैसे लफ़्ज़ों का कब-कब इस्तेमाल किया था, तो आपको शायद ही याद आता। आप देख रहे हैं कि इस फ़ेहरिस्त में संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के अल्फ़ाज़ तो हैं ही, 'सुआ' जैसा हिन्दी का शब्द भी है। इन लफ़्ज़ों पर बोलचाल की मुह्र गहरी नहीं है। इतना ज़रूर है कि इनका इस्तेमाल आपकी 'बोलचाल का वह बहाव' तोड़ता नहीं, जिसके आप दिलदादा(प्रशंसक) थे। निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' के कई चरणों और मिर्ज़ा ग़ालिब के उर्दू-दीवान के कई मिस्रों में 'बोलचाल का वो बहाव' बार-बार टूटता है। अगर उनकी तरह के लोगों ने ये कोशिश की होती कि 'बोलचाल का वो बहाव' न टूटे तो अपने तमाम 'फ़ारसी' और 'संस्कृत' लफ़्ज़ों के इस्तेमाल के बावजूद उनकी ज़बान 'एक' ही गिनी गयी होती। अगर इन 'दो ज़बानों' का 'एक' होना मुश्किल बना रहेगा, तो उसकी वज्ह 'ज़बान' न होकर 'सियासत' ही होगी।

''मैं स्वीकार करता हूँ ....'' नाम की आपकी 'भूमिका' की ही तरह आपका 'आत्मकथ्य' भी काफ़ी दिलचस्प है। उसमें आपने इस चीज़ की वज़ाहत करने की कोशिश की है 'कि मैं ग़ज़लें क्यों लिख रहा हूँ?' (वही, पृ. 237) अस्ल में तो आपसे ये पूछा जाना चाहिए था कि आपने 'कविसम्मेलनी गीत' क्यों लिखे थे? और अगर लिखे ही थे, तो उनमें से एक का अपने नाम से मुज़ाहिरा करने के लिए बेचारे कमलेश्वर का इस्तेमाल क्यों किया था? ये वही 'खेल' है, जिसके एक बाज़ू को 'खिलन्दड़ापन' तो दूसरे को 'खिलवाड़' बताया जा सकता है। हवाले के लिए आपका लेख 'ग़लती का शिकार : एक कहानीकार' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : चार, पृ. 99-100) देखा जाना ज़रूरी है।

'.... मैं ग़ज़लें क्यों लिख रहा हूँ?' का जवाब देते हुए आपने ये भी कहा था— ''उसके कई कारण हैं, जिनमें सबसे मुख्य है कि मैंने अपनी तक्लीफ़ को ....उस शदीद तक्लीफ़ को, जिससे सीना फटने लगता है, ज़्यादा-से-ज़्यादा सच्चाई और समग्रता के साथ ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों तक पहुँचाने के लिए ग़ज़ल कही है।'' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 237)

आपने जब इस तेवर से ये दावा किया था, तो क्या आपकी नज़र में इस तरह की भी ग़ज़लें थीं?—

चाँदनी छत पे चल रही होगी
अब अकेली टहल रही होगी (वही, पृ. 270)

अफ़वाह है या सच है, ये कोई नहीं बोला
मैंने भी सुना है अब जायेगा तेरा डोला (वही, पृ. 278)

अगर ख़ुदा न करे सच ये ख़्वाब हो जाये
तेरी सहर हो, मेरा आफ़ताब हो जाये (वही, पृ. 278)

तुमको निहारता हूँ सुबह से ऋतम्बरा
अब शाम हो रही है, मगर मन नहीं भरा (वही, पे. 281)

किसी को क्या पता था इस अदा पर मर मिटेंगे हम
किसी का हाथ उट्ठा और अलकों तक चला आया (वही, पृ. 290)

मैं जिसे ओढ़ता-बिछाता हूँ
वो ग़ज़ल आपको सुनाता हूँ (वही, पृ. 290)

इन रिवायती ग़ज़लों को पढ़कर आपके इस दावे पर ग़ौर करें तो मुँह का मज़ा बिगड़े बिना नहीं रहेगा। ''ज़िन्दगी में कभी-कभी ऐसा दौर आता है, जब तक्लीफ़ गुनगुनाहट के रास्ते बाहर आना चाहती है। उस दौर में फँसकर ग़मे-जानाँ और ग़मे-दौराँ एक हो जाते हैं। ये ग़ज़लें दरअस्ल ऐसे ही एक दौर की देन हैं।'' (वही, पे. 237) भला बताइए 'ग़मे-जानाँ' से जुड़ी ये 'रिवायती ग़ज़लें' आख़िर कहाँ 'ग़मे-दौराँ' से जुड़ती हुई नज़र आती हैं? इनमें तो आप 'इश्क़ से संजीदा गुफ़्तगू' ही कर रहे हैं, भले आपने दावा किया हो—

वे कर रहें हैं इश्क़ पे संजीदा गुफ़्तगू
मैं क्या बताऊँ मेरा कहीं और ध्यान है (वही पृ. 289)

इनमें इश्क़ के उस अलमिये पर एक भी ग़ज़ल नहीं दिखायी दे रही है, जिसमें 'ग़मे-जानाँ और ग़मे-दौराँ एक हो' गये हों। आपने लिखा है— ''लेकिन ग़ज़ल लिखने या कहने के पीछे एक जिज्ञासा अक्सर मुझे तंग करती रही है और वो ये कि भारतीय कवियों में सबसे प्रखर अनुभूति के कवि मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए ग़ज़ल का माध्यम ही क्यों चुना?'' (वही, पृ. 237) यहाँ आप मिर्ज़ा ग़ालिब की ही कही एक बात भूल गये—

रेख़्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब
कहते हैं अगले ज़माने में कोई 'मीर' भी था

(शरहे-दीवाने-ग़ालिब : जोश मल्सियानी, पृ. 108)

यहाँ मुझे कहना सिर्फ़ इतना ही है कि मिर्ज़ा ग़ालिब 'प्रखर अनुभूति के कवि' ज़रूर थे, मगर 'भारतीय कवियों में सबसे प्रखर अनुभूति के कवि' थे, इस पर थोड़ा शुब्हा करके ज़रूर देखना चाहिए था।

आगे आपने और भी ज़ियादा बहसतलब बात कह दी— ''और अगर ग़ज़ल के माध्यम से ग़ालिब अपनी निजी तक्लीफ़ को इतना सार्वजनीन बना सकते हैं, तो मेरी दुहरी तक्लीफ़ (जो व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी) इस माध्यम के सहारे एक अपेक्षाकृत व्यापक पाठक वर्ग तक क्यों नहीं पहुँच सकती?''(वही, पृ. 237) आपने अपनी 'दुहरी तक्लीफ़' के बारे में सही जानकारी दी, 'जो व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी' लेकिन ग़ालिब के बारे में ये ग़लतफ़हमी पैदा कर

दी कि जैसे उनकी ग़ज़लों में सिर्फ़ 'निजी तक्लीफ़' ही रही हो। भला बताइए, कोई कितने दिनों तक किसी की 'निजी तक्लीफ़' से जुड़े 'डायरी के नीरस पृष्ठ' पढ़ता रह सकता है? ऊपर से ग़ालिब की ग़ज़लें तक़्रीबन डेढ़ सौ साल से न सिर्फ़ पढ़ी जा रही हैं, बल्कि बराबर बहस में भी बनी रहती हैं।

'सारिका', 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसे रिसालों की बदौलत मिली मक़्बूलियत के नशे में आप तो ये भी बोल गये— ''हाँ, मैंने ग़ज़ल अपने चारों ओर बुनी जा रही कविता की एकरसता तोड़ने के लिए भी कहना शुरू किया।''(वही, पृ. 238) आपका ये अन्दाज़ आपके दोस्त सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के अन्दाज़ से कम धाड़ मारनेवाला नहीं है, जिन्होंने 'तीसरा सप्तक' में दावा किया था, ''और मैं कविता नहीं लिखता यदि हिन्दी के आज के प्रतिष्ठित कवियों में से एक भी ऐसा होता जिसकी कविताओं में कवि का एक व्यापक जीवन-दर्शन मिलता .....''(तीसरा सप्तक, पृ. 208)

आपको 'प्रयोगवाद' से लेकर 'नयी कविता' तक 'व्यापक जीवन-दर्शन' तो क्या मिलता, 'कविता की एकरसता' ज़रूर मिल गयी, जिस पर टूट पड़ने के लिए आपने ग़ज़लें कह डालीं। अगर ग़ज़ल से ही 'कविता की एकरसता' टूट सकती, तो शमशेर बहादुर सिंह की ग़ज़लों से ही न टूट गयी होती, जिनके बारे में आपने कहा था— ''ग़ज़ल का चस्का मुझे ख़ुद शमशेर बहादुर सिंह की ग़ज़लें सुनकर लगा था।'' (वही, पृ. 238) शमशेर बहादुर सिंह ज़रूर ऐसे थे कि उन्हें उसी 'प्रयोगवाद और नयी कविता' में से मुक्तिबोध जैसे कवि मिल गये थे, जिनमें 'व्यापक जीवन दर्शन' की झलक तो थी ही, ऊपर से बिना उजड्ड हुए उनमें 'कविता की एकरसता' ढूँढ पाना भी मुश्किल था। अरे ! वही मुक्तिबोध, जिनके बारे में शमशेर ने ग़ज़ल के ढाँचे में एक नज़्म कही थी, जिसका मत्ला था—

ज़माने भर का कोई इस क़दर अपना न हो जाये
कि अपनी ज़िन्दगी ख़ुद आपको बेगाना हो जाये

(होड़ में पराजित काल : सं. विष्णु खरे, पृ. 448)

यहीं आपसे ये भी पूछ लिया जाना चाहिए कि अगर इतनी ही 'कविता में एकरसता' थी तो आपको 'नयी कविता की उपलब्धियाँ' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : चार, पृ. 431) नाम की तह्रीर लिखने की क्या ज़रूरत आन पड़ी थी ! एक बात और भी पूछी जानी चाहिए कि जब आप कविता की एकरसता से इस क़दर नाराज़ थे तो आपकी ग़ज़लों में 'रिवायती ग़ज़ल की एकरसता' ने कैसे जगह बना ली? नहीं बनायी थी क्या? आपका ध्यान इस पर तो गया— ''....कि कविता में आधुनिकता का छद्म कविता को बराबर पाठकों से दूर करता गया है।'' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 238) लेकिन इस पर नहीं गया कि दक़ियानूस ख़यालों के ख़िलाफ़ बग़ावत के तौर पर उभरी 'आधुनिकता' में ख़ुद इतनी आँच थी कि उसका उतना मक़्बूल होना मुम्किन नहीं था, जितना दक़ियानूस ख़यालों के लिए था। 'आधुनिकता का छद्म' इसीलिए था कि कहीं-न-कहीं 'आधुनिकता' भी थी, जिसके बिना मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' क्या-क्या हो रहा था, ये दिखना तो मुम्किन था ही नहीं, बल्कि उसके बिना आपका 'एक कण्ठ विषपायी' तरह-तरह की 'आवाज़ों के घेरे' में फँसकर 'सूर्य का स्वागत' भी कैसे कर पाता? ग़ज़लों के मोह में क्या आप इस तरह की चीज़ों को नज़रअन्दाज़ नहीं कर रहे थे?

आपकी ये बात सरासर ग़लत है कि— ''कविता और पाठक के बीच इतना फ़ासला कभी नहीं था, जितना आज है।'' (वही, पृ. 238) 'आज' ये 'फ़ासला' चाहे जितना हो, लेकिन 'कभी नहीं था' इस बात में तो ज़रा भी सच्चाई नहीं है। अभी आप जिनकी तारीफ़ में दोहरे हुए जा रहे

थे, उन मिर्ज़ा ग़ालिब की 'ग़ज़ल' और उनके पढ़नेवालों के बीच भी अच्छा-ख़ासा 'फ़ासला' था। ग़ैरों ने उनसे किस तरह की बेहूदा शिकायतें की, उन्हें जाने देते हैं, ख़ुद उन्होंने 'पढ़नेवालों' से क्या शिकायत की, वो तो सुन ही लें—

आगही दामे-शनीदन जिस क़दर चाहे बिछाये
मुद्दआ अन्क़ा है अपने आलमे-तक़रीर का

(शरहे-दीवाने-ग़ालिब : जोश मल्सियानी, पृ. 52)

इसमें कोई शुब्हा नहीं कि आप ख़राब कवियों की ख़राब कविताएँ ही ज़्यादा पढ़ते थे या उन्हीं को दिल से लगाये रहते थे, जिसकी वजह से आपकी राय बनी— ''इससे भी ज़्यादा दु:खद बात ये है कि कविता शनै:-शनै: अपनी पहचान और कवि अपनी शख़्सियत खोता गया है। ऐसा लगता है, गोया दो दर्जन कवि एक ही शैली और शब्दावली में एक ही कविता लिख रहे हैं।'' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 238)

इसमें सिर्फ़ दलील बदल गयी है, मुद्दआ तो वही 'कविता की एकरसता' का ही है। इसके बाद की आपकी दलील ख़ासी ख़तरनाक है, जिसमें आपने कहा था— ''इस कविता के बारे में कहा जाता है कि ये सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति की भूमिका तैयार कर रही है। मेरी समझ में यह वक्तव्य भ्रामक है और ये दलील खोटी है। जो कविता लोगों तक पहुँचती नहीं, उनके गले नहीं उतरती वो किसी भी क्रान्ति की संवाहिका कैसे हो सकती है।'' (वही, पृ. 238) आपकी ये दलील 'आधुनिकता का छद्म' करनेवाले ख़राब कवियों के ख़िलाफ़ उतनी चस्पाँ नहीं होती, जितनी मुक्तिबोध के निबन्ध 'जनता का साहित्य किसे कहते हैं?' के ख़िलाफ़ जा खड़ी होती है, जिसमें उन्होंने और तमाम दलीलों के साथ ये दलील भी दी थी— '' 'जनता का साहित्य' का अर्थ जनता को तुरन्त ही समझ में आनेवाले साहित्य से हरगिज़ नहीं। अगर ऐसा होता तो 'क़िस्सा तोता-मैना' और नौटंकी ही साहित्य के प्रधान रूप होते। साहित्य के अन्दर सांस्कृतिक भाव होते हैं। सांस्कृतिक भावों को ग्रहण करने के लिए बुलन्दी, बारीकी और ख़ूबसूरती को पहचानने के लिए, उस अस्लियत को पाने के लिए जिसका नक़्शा साहित्य में रहता है, सुनने या पढ़नेवाले की कुछ स्थिति अपेक्षित होती है। वो स्थिति है उसकी शिक्षा, मन का सांस्कृतिक परिष्कार। साहित्य का उद्देश्य सांस्कृतिक परिष्कार है, मानसिक परिष्कार है, किन्तु ये परिष्कार साहित्य के माध्यम के द्वारा तभी सम्भव है, जब स्वयं सुननेवाले या पढ़नेवाले की अवस्था शिक्षित (की)हो। यही कारण है कि मार्क्स का 'डास केपिटल', लेनिन के ग्रन्थ, रोम्याँ रोलाँ के, ताल्सतॉय और गोर्की के उपन्यास एकदम अशिक्षित और असंस्कृतों की न समझ में आ सकते हैं, न वे उनके पढ़ने के लिए होते ही हैं।'' (मुक्तिबोध रचनावली : पाँच, पृ. 75)

'मैं ग़ज़लें क्यों लिख रहा हूँ?' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 237) का जवाब देते हुए आपने ये भी कहा था, ''.... आज की कविता के वाग्जाल और सपाटबयानी से उकताकर मैंने उर्दू के इस पुराने और आज़मूदा माध्यम की शरण ली है— गो कि मैं जानता था कि यहाँ भी इश्क़ और हुस्न से हटकर आज की तक्लीफ़ का बखान एक मुश्किल और नाज़ुक काम है और ग़ज़ल की रवायत से बँधे हुए लोग मेरी इस कोशिश पर नाक-भौं ज़रूर सिकोड़ेंगे।'' (वही, पृ. 238) अब आपने 'एकरसता' को छोड़कर 'आज की कविता' के 'वाग्जाल' और 'सपाटबयानी' पर हमला कर दिया। 'वाग्जाल' को लेकर आपने कभी शमशेर बहादुर सिंह पर इस ढंग से हमला किया था— ''शमशेर जी, आप ये रचनाएँ अपने लिए लिख रहे हैं या औरों के लिए? यदि औरों के लिए, तो भाई ज़रा ऐसा लिखिए कि कुछ पल्ले तो पड़े।''(दुष्यन्तकुमार रचनावली : चार, पृ. 342) शमशेर ने चाहे जितनी भी उलझी हुई कविताएँ लिखी हों, लेकिन मुझे पूरा यक़ीन है कि आप उन कमअक़्लों

में से तो नहीं ही रहे होंगे, जो आपको शमशेर तो क्या, मुक्तिबोध से भी बड़ा कवि मानते हैं। आपके ज़रिअे धुनी गयी 'सपाटबयानी' के लिए सबसे ज़ियादा बदनाम हुए 'धूमिल'। उन्होंने अपनी 'पटकथा' में पिटे हुए हिन्दुस्तान का बयान इस अन्दाज़ में किया था—

दुखी मत हो
यह मेरी नियति है
मैं हिन्दुस्तान हूँ
जब भी मैंने उन्हें उजाले से जोड़ा है
उन्होंने मुझे इसी तरह अपमानित किया है
इसी तरह तोड़ा है
मगर समय गवाह है
कि मेरी बेचैनी से आगे भी राह है।

(संसद से सड़क तक, पृ. 120)

इस तरह की 'तहदारी' से भरी 'सपाटबयानी' के आगे आपकी ग़ज़ल में खींची गयी हिन्दुस्तान की ये तस्वीर कितनी 'तहदार' कही जा सकती है—

कल नुमाइश में मिला वो चीथड़े पहने हुए
मैंने पूछा नाम तो बोला कि हिन्दुस्तान है

(दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 288)

'ग़ज़ल की रवायत से बँधे हुए लोग' ग़ज़ल में की गयी आपकी कोशिश पर क्या कहेंगे, ये उतनी फ़िक्र की बात नहीं है, जितनी उसको लेकर आपकी ये ग़लतफ़हमी— ''कि यहाँ भी इश्क़ और हुस्न से हटकर आज की तक्लीफ़ का बखान एक मुश्किल और नाज़ुक काम है।'' (वही, पृ. 238) आप भी कहाँ 'सुख़न अज़ ज़नान' या 'सुख़न बा ज़नान' जैसी फ़र्सूदा इस्तिलाहों के फेर में पड़ गये। 'इश्क़ और हुस्न से हटकर' तक्लीफ़ों के बयान का 'मुश्किल और नाज़ुक काम' ग़ज़लें हर दौर में करती रही हैं। आपका ये लहजा मुनासिब नहीं है कि जैसे इस 'मम्नूअ शजर का समर' आपने ही पहली बार चखा हो। आपके इस जज़्बाती लहजे का असर ये पड़ा कि आपसे भी ज़्यादा जज्बाती बनकर अदम गोण्डवी शायरों को इस तरह की बेसूद नसीहत करने लगे—

भूख के एहसास को शेरो-सुख़न तक ले चलो
या अदब को मुफ़्लिसों की अंजुमन तक ले चलो
जो ग़ज़ल माशूक़ के जल्वों से वाक़िफ़ हो चुकी
उसको अब बेवा के माथे की शिकन तक ले चलो

(हिन्दी ग़ज़ल का स्वरूप और महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर : डॉ. वशिष्ठ अनूप, पृ.112)

क्या ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था? 'मुफ़्लिसों की अंजुमन' के समाजी तज्रबे तो पुराने ज़माने के पुराने-से-पुराने 'शेरो-सुख़न' में भी मौजूद थे। क्या नहीं थे?

आपने कहा है— ''मुझे लगता है, आज जब कविता में छन्द और काव्य में अनुशासन की बात फिर से उठायी जाने लगी है, और उन लोगों द्वारा उठायी जाने लगी है, जो कविता को अकविता बनाने की साज़िश में शामिल थे..... तो शायद हिन्दी में ग़ज़ल लाने की मेरी यह कोशिश रायगाँ नहीं जायेगी।''(दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ.238) 'कविता को अकविता बनाने की साज़िश में शामिल' कौन-कौन लोग थे, इसका पता लगाना तो मुश्किल है, लेकिन आपकी ग़ज़लों के असर ने ये ग़ज़ब ज़रूर ढाया कि ग़ज़लों में से छन्द ज़रूर ग़ायब होने लगे। इसकी ज़िम्मेदारी भी कुछ-कुछ आपके इस तरह के तेवर पर डाली जा सकती है— ''वैसे ग़ज़लें मैं इन बन्दिशों के

पालन के लिए नहीं कहता।''(वही, पृ. 375) गोया 'मीर' और 'ग़ालिब' 'इन बन्दिशों के पालन के लिए' ग़ज़लें कहा करते थे। वैसे आपकी इस बात में भी कोई नयापन नहीं है। ये वही अन्दाज़ है, जिसमें किसी बुज़ुर्ग ने कहा था—

मन न दामन फ़ाइलातुन फ़ाइलात
शेर मी गोयम् ब अज आब-ए-हयात

(अमीर-उल-अरूज़, बज़्मी अंसारी, पृ. दाल)

मतलब ये कि मैं फ़ाइलातुन-फ़ाइलात नहीं जानता। शेर मैं हयात के आब से कहता हूँ। 'हिन्दी में ग़ज़ल' लाने की 'कोशिश' आपने कोई परायी ज़बान फ़ारसी से तो की नहीं थी, बल्कि उसी 'हिन्दी ज़बान' से की थी, जिसमें 'मीर' ने ये शेर कहा था—

क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको सुरूरे-क़ल्ब
आया नहीं ये लफ़्ज़ तो हिन्दी ज़बाँ के बीच

(शेरे-शोरअंगेज़ : शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी, पृ. 186)

'फ़ारसी' से 'हिन्दी में ग़ज़ल' लाने की 'कोशिश' तो अमीर ख़ुसरो बहुत पहले ही कर चुके थे। 'छन्द के अनुशासन' को लेकर आपने एक ज़रूरी बात ये भी कही है— ''नयी कविता का कवि छन्द के अनुशासन और आवश्यकता से परिचित था। किसी हद तक उस पर अधिकार भी रखता था, परन्तु वो छन्द की रूढ़ियों या छन्द के ढाँचे में कुछ नया न कह पाने की विवशता से छन्दहीनता की ओर उन्मुख हुआ। इसीलिए जब भी और जहाँ भी छन्द में नया कुछ कहा गया, नयी कविता ने उसका स्वागत किया और उसे अपनाया। केदारनाथ सिंह और ठाकुरप्रसाद सिंह के गीतों की स्वीकृति इसका प्रमाण है। इसलिए बावजूद इसके कि ग़ज़ल एक स्वतंत्र चीज़ है, मैं इसे नयी कविता की एक विधा तक मानने को तैयार हूँ।'' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 239) कविता में 'छन्द के अनुशासन' से 'छन्दहीनता का अनुशासन' ज़ियादा मुश्किल मालूम देता है, जिससे 'मुक्तछन्द' में इतनी महारत रखने के बावजूद निराला और मुक्तिबोध वाक़िफ़ नज़र नहीं आते। आपने भी 'छन्दहीनता के अनुशासन' में कोई कमाल की चीज़ दी हो, ऐसा याद नहीं आ रहा है। कहीं आप अपने काव्य-नाटक 'एक कण्ठ विषपायी' को 'छन्दहीनता की ओर उन्मुख' मानने की ग़लतफ़ह्मी में तो मुब्तिला नहीं थे? ये काव्य-नाटक मात्रिक छन्द के गण 'ड' (इसका नाम सुना था कभी?) पर आधारित 'मुक्तछन्द' में है। चूँकि ये 'कवित्त' पर आधारित नहीं है, इसलिए निराला इसमें 'मुक्तछन्द' का इस्तेमाल न मानकर 'मुक्तगीत' का ही इस्तेमाल मानते। आपकी प्रशंसित 'नयी कविता' ने 'मुक्तछन्द' और 'छन्दहीन' कविता को इस क़दर आपस में गड़बड़ा दिया कि अब तो दोनों को एक ही लाठी से हाँका जाने लगा है। आपकी प्यारी 'उर्दू' में ऐसा नहीं होता। वहाँ 'मुक्तछन्द' को 'आज़ाद नज़्म' तो 'छन्दहीन' को 'नस्री नज़्म' कहा जाता है।

आप लाख मानने को तैयार हों, लेकिन ग़ज़ल नयी कविता की एक विधा नहीं मानी गयी, एक 'स्वतन्त्र चीज़' ही बनकर रह गयी। पता नहीं कब छन्दों में बँधी, छन्दों पर आधारित मुक्तछन्द और छन्दों से बिल्कुल आज़ाद छन्दहीन कविताएँ एक ही घर की गिनी जाकर एक साथ नापी-तौली जायेंगी। 'विशेष अज्ञ'(साक्षात् त्रिलोचन : सं. कमलाकान्त द्विवेदी/दिविक रमेश, पृ. 76) 'छन्दों में बँधी' कविताएँ तो पहचान लेंगे, लेकिन 'मुक्तछन्द' और 'छन्दहीन' कविताओं में फ़र्क़ कैसे करेंगे?

आपने कहा— ''मेरी दिक़्क़त ये थी कि उर्दू मैं जानता नहीं....'' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ.233) आप ही की तरह अक्सर 'हिन्दीवालों' में ये कमतरी का एहसास पाया जाता है कि 'उर्दू मैं जानता नहीं'। इसके उलट अक्सर 'उर्दूवालों' में ये बरतरी का एहसास पाया जाता है कि 'मैं हिन्दी नहीं जानता'। कमाल ये है कि वो हिन्दी में ही बताते हैं कि 'मैं हिन्दी नहीं जानता'। यहीं

ये बता दिया जाना भी ज़रूरी है कि कमतरी और बरतरी, दोनों के एहसास एक ही बीमारी के दो लक्षण हैं।

आपने कहा कि– ''....हिन्दी में मुझे वो चुहल, वो मुहाविरा और बोलचाल का वो बहाव नहीं मिला, जिसके सहारे ग़ज़ल कही जाती है या जो ज़्यादातर लोगों की ज़बान पर चढ़ा है।''(वही, पृ.239) क्या आपको उर्दू में हर जगह 'वो चुहल, वो मुहाविरा और बोलचाल का बहाव' मिल जाता है, जिसके सहारे ग़ज़ल कही जाती है? मिसाल के लिए इन मिस्रों में– 'हवा-ए-सैरे-गुल, आईना-ए-बेमेह्रिए-क़ातिल'(शरहे-दीवान-ग़ालिब : जोश मल्सियानी, पृ. 60), 'दहाने-हर बुते-पैग़ाराजू, ज़ंजीरे-रुस्वाई'(वही, पृ.88), 'बजल्वा रेज़ी-ए-बाद-ओ-बपरफ़िशानी-ए-शम्अ'(वही, पृ.162); इस तरह के मिस्रों में 'बोलचाल का वो बहाव' तो नहीं मिलता, लेकिन एक 'चुहल' ज़रूर मिल जाती है कि इनके लफ़्ज़ों का मतलब समझने के लिए अक्सर पढ़नेवालों को बार-बार डिक्शनरी ज़रूर देखना पड़ता है।

एक तरफ़ आप कहते हैं कि 'उर्दू मैं जानता नहीं....'' और दूसरी तरफ़ आप दावा करते हैं– ''यों प्रयोग के लिए मैंने कुछ ग़ज़लें शुद्ध हिन्दी और कुछ शुद्ध उर्दू में भी कही हैं।'' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ.239) अगर आपने बता दिया होता कि मेरी ये ग़ज़लें 'शुद्ध हिन्दी' में और ये 'शुद्ध उर्दू' में हैं, तो लोगों की जानकारी में न सही बेवक़ूफ़ी में ज़रूर इज़ाफ़ा हुआ होता। 'शुद्ध हिन्दी' में तो चन्द जुम्ले बन भी सकते हैं, 'शुद्ध उर्दू' में कोई जुमला कैसे बन सकता है? 'शुद्ध उर्दू' वही 'ख़ालिस उर्दू' है, जिसे सैयद अनवर हुसैन 'आर्ज़ू' ने अपनी किताब 'सुरीली बाँसुरी' में लाने की कोशिश की थी। नतीजे में वो ज़ियादातर 'ख़ालिस हिन्दी' बनकर रह गयी थी। अपने पक्के इरादे के बावजूद वो अपनी 'ख़ालिस उर्दू' यानी 'ख़ालिस हिन्दी' को 'गंगाजल', 'सुखमण्डल'(सुरीली बाँसरी', पृ.15), 'प्रेम'(वही, पृ.16), 'रस' (वही, पृ.18), 'ध्यान'(वही, पृ.21), 'चंचल'(वही, पृ.22) जैसे 'संस्कृत' शब्दों और 'सलाम', 'शौकत', 'दौलत', 'इज़्ज़त', 'अज़्मत'(वही, पृ.15), 'ताक़त', 'हिम्मत', जुरअत', 'फ़त्ह-ओ-नुस्रत'(वही, पृ. 16)', 'सर'(वही, पृ. 19), 'बुरा'(वही, पृ. 23) जैसे अरबी-फ़ारसी-लफ़्ज़ों से नापाक हो जाने से बचा नहीं पाये थे।

आपके दावे के मुताबिक़ 'साये में धूप' में एक भी ग़ज़ल न 'शुद्ध हिन्दी' में है, न 'शुद्ध उर्दू' में। उसके ये चन्द शेर ज़रूर मुझे 'शुद्ध हिन्दी' में लग रहे हैं। अगर कोई आलिम ये बता देगा कि इनमें कुछ शब्द 'हिन्दी' के न होकर संस्कृत या अरबी-फ़ारसी जैसी हिन्दी को अशुद्ध करनेवाली दूसरी ज़बानों के हैं, तब मैं उन्हें 'शुद्ध हिन्दी' के शेर नहीं कह पाऊँगा। चूँकि वो चन्द ही हैं, इसलिए उन्हें सुन लेना बुरा नहीं होगा–

हमारे हाथ तो काटे गये थे
हमारे पाँव भी छोले हुए हैं (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 265)
जले तो रेत में तलवे तो हमने ये देखा
बहुत-से लोग वहीं छटपटा के बैठ गये (वही, पृ. 259)
खड़े हुए थे अलावों की आँच लेने को
सब अपनी-अपनी हथेली जलाके बैठ गये (वही, पृ. 67)
चाँदनी छत पे चल रही होगी
अब अकेली टहल रही होगी (वही, पृ. 270)
पुराने पड़ गये, डर फेंक दो तुम भी
ये कचरा आज बाहर फेंक दो तुम भी (वही, पृ. 274)

मेले में भटके होते तो कोई घर पहुँचा देता
हम घर में भटके हैं, कैसे ठौर-ठिकाने आयेंगे (वही, पृ. 276)

इनके अलावा 'शुद्ध हिन्दी' के तक़रीबन साठ-सत्तर मिस्रे और और मिल जायेंगे, लेकिन बात वहीं अटकी रहेगी कि किसी ज़बान को शुद्ध करने का मतलब उसे हलाल करना न सही, उसे कमज़ोर करना तो होगा ही। जब भी कोई इसके चक्कर में पड़ता है, उसके साथ हादसा वही पेश आता है, जो आपके साथ आया था— ''यों प्रयोग करने के लिए मैंने कुछ ग़ज़लें शुद्ध हिन्दी और कुछ शुद्ध उर्दू में भी कही हैं। किन्तु मैंने देखा कि उनमें से ज़्यादातर या तो ज़्यादा साहित्यिक हो गयी हैं या ज़्यादा कृत्रिम।'' (वही, पृ. 259) आपने अपने 'आत्मकथ्य' में अपनी एक ग़ज़ल के छह शेरों में से जो पाँच शेर उतारे हैं, वो ये हैं—

बाढ़ की सम्भावनाएँ सामने हैं
और नदियों के किनारे घर बने हैं
चीड़-वन में आँधियों की बात मत कर
इन दरख़्तों के बहुत नाज़ुक तने हैं
आपके क़ालीन देखेंगे किसी दिन
इस समय तो पाँव कीचड़ में सने हैं
इस तरह टूटे हुए चेह्रे नहीं हैं
जिस तरह टूटे हुए ये आईने हैं
जिस तरह चाहो बजाओ इस सभा में
हम नहीं हैं आदमी, हम झुनझुने हैं (वही, पृ. 240)

इस पर आपने सवाल किया है— ''मैंने इस ग़ज़ल के कुछ ज़्यादा अंश इसलिए उद्धृत किये कि इसके बाद मैं आपसे ये सवाल पूछ सकूँ कि ये हिन्दी है या उर्दू?'' (वही पृ. 240) आपकी इस ग़ज़ल में तीन तरह के शब्द दिखायी दे रहे हैं— (१) 'सम्भावनाएँ', (२) 'नदियों', (३) 'वन', (४) 'दिन', (५) 'समय', (६) 'सभा' जैसे 'छह संस्कृत' के तत्सम शब्द। (१) 'किनारे', (२) 'दरख़्तों', (३) 'नाज़ुक', (४) 'क़ालीन', (५) 'तरह', (६) 'चेह्रे', (७) 'आईना' और (८) 'आदमी' जैसे 'आठ अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्द'। बाक़ी (१) 'बाढ़', (२) 'की', (३) 'सामने', (४) 'हैं', (५) 'और', (६) 'के', (७) 'घर', (८) 'बने', (९) 'चीड़', (१०) 'में', (११) 'आँधियों', (१२) 'बात', (१३) 'मत', (१४) 'कर', (१५) 'इन', (१६) 'बहुत', (१७) 'तने', (१८) 'आपके', (१९) 'देखेंगे', (२०) 'किसी', (२१) 'इस', (२२) 'तो', (२३) 'पाँव', (२४) 'कीचड़', (२५) 'सने', (२६) 'टूटे', (२७) 'हुए', (२८) 'नहीं', (२९) 'जिस', (३०) 'ये', (३१) 'चाहो', (३२) 'बजाओ', (३३) 'हम', और (३४) 'झुनझुने'। संस्कृत के छह 'तत्मस' शब्द आपकी ग़ज़ल को 'हिन्दी' बना रहे हैं, तो 'अरबी-फ़ारसी' के आठ 'तत्सम' शब्द उसे उर्दू बना रहे हैं। बाक़ी के चौंतीस 'तद्‌भव' शब्द, जिन्होंने हिन्दी बनने के लिए बरसों मेह्नत की, जिनके बिना हिन्दी या उर्दू का एक भी जुम्ला पूरा नहीं किया जा सकता, उनकी न तीन में गिनती होती है न तेरह में। इनकी हैसियत रैयत से भी गयी-गुज़री समझी जाती है। इनकी छाती पर जब संस्कृत के 'तत्सम' शब्द स्वामी बनकर चढ़ बैठते हैं, तो उसे 'हिन्दी' कहा जाता है और जब 'अरबी-फ़ारसी' के तत्सम अल्फ़ाज़ मालिक बनकर इनके सीने पर सवार हो जाते हैं तो उसे 'उर्दू' कहा जाता है। हिन्दी के इन चौंतीस 'तद्‌भव' शब्दों के बीच, इनके ढाँचे के मुताबिक़ सर झुकाकर अगर संस्कृत के छह क्या साठ 'तत्सम' शब्द या अरबी-फ़ारसी के आठ क्या अस्सी 'तत्सम' शब्द बैठ जायें, तो भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा। इससे भी क्या फ़र्क़ पड़ जायेगा कि उसे

हिन्दवी, हिन्दी, रेख़्ता, उर्दू या हिन्दुस्तानी नाम में से कोई एक नाम दे दिया जाय, या सारे-के-सारे चलने दिये जायें। इससे तो और भी फ़र्क़ नहीं पड़ेगा कि उसे एक ही लिपि में लिखा जाये या दस-बीस लिपियों में लिखना शुरू कर दिया जाय। फ़र्क़ इससे ज़रूर पड़ेगा कि 'अरबी-फ़ारसी' लफ़्ज़ों को लाने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों को 'मत्रूक'(त्याग देना) करने की मुहिम चलायी जाय या 'अरबी-फ़ारसी' के 'तत्सम' लफ़्ज़ों को हटाने की तह्रीक चलायी जाय।

जब आप कहते हैं— ''मैं तो यह मानता हूँ कि उर्दू और हिन्दी दोनों सगी बहनें हैं।'' (वही पृ. 240) तब आप यही मानते हैं कि दोनों में फ़र्क़ है। फिर आप कहते हैं— ''दोनों जब अपने ऊँचे सिंहासनों से उतरकर आम आदमी के पास आती हैं, तो उनमें फ़र्क़ कर पाना बड़ा मुश्किल होता है।'' (वही, पृ. 240) आपका ध्यान इस पर क्यों नहीं गया कि 'दोनों जब अपने ऊँचे सिंहासनों पर' चढ़ी रहती हैं, तब भी 'एक' ही होती हैं। हिन्दी के 'तद्‌भव' शब्दों की इफ़्रात की बदौलत तख़्त पर सवार यानी फ़ारसी लफ़्ज़ों से लदी मिर्जा ग़ालिब जैसे शायरों की उर्दू और निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' जैसी संस्कृत शब्दों से बँधी हिन्दी या आम लोगों की ज़बानों पर चढ़ी प्रेमचंद जैसों की 'गिरी-पड़ी' 'हिन्दुस्तानी' में सिर्फ अन्दाज़ भर का ही फ़र्क़ होता है, 'ढाँचा' तो 'एक' ही रहता है। अब आपकी ग़ज़लों की ओर मुड़ते हैं। सबसे पहले तो आपके 'आत्मकथ्य' में दी गयी उस ग़ज़ल पर नज़र डालते हैं, जिसका ये शेर उसमें आपने नहीं दिया है—

अब तड़पती-सी ग़ज़ल कोई सुनाये
हमसफ़र ऊँघे हुए हैं, अनमने हैं (वही, पृ. 280)

इस शेर पर 'हिन्दी ग़ज़ल की रिवायत : एक जिरह' नाम की अपनी ही तह्रीर में कही हुई एक पुरानी बात याद आ गयी; जिसे न सुनाना एक तरह की नाइंसाफ़ी होगी। शमशेर बहादुर सिंह का एक शेर है— *'वही उम्र का एक पल कोई लाये/ तड़पती हुई-सी ग़ज़ल कोई लाये'* उम्र के उसी एक 'ख़ास' पल की वज्ह से इस ग़ज़ल की तड़प आशिक़ाना बनकर रह गयी है, बिल्कुल निजी तड़प, जिसका तड़पते हुए दौर से जैसे रिश्ता ही न हो। सम्भवत: इसी बीज से जब 'तड़पती-सी-ग़ज़ल' दुष्यन्तकुमार के यहाँ आती है तो वो निजी तड़प के साथ सारे दौर की तड़प भी बन जाती है; *'अब तड़पती-सी ग़ज़ल कोई सुनाये/ हमसफ़र ऊँघे हुए हैं, अनमने हैं',* ('वर्तमान साहित्य' शताब्दी कविता विशेषांक, मई-जून 2000, पृ. 328)

कहीं शमशेर बहादुर सिंह के साफ़-साफ़ असर को न दिखाने के लिए तो उस शेर से आपने आँखें नहीं चुरा ली थीं? असर से बचना मुश्किल भी होता है और ज़रूरी भी नहीं है। आपका एक मत्ला है— *'चाँदनी छत पे चल रही होगी, अब अकेली टहल रही होगी'* (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 270) इसी ज़मीन में जॉन एलिया का भी एक मत्ला है— *'जी ही जी में वो जल रही होगी/ चाँदनी में टहल रही होगी'* (शायद, पृ. 107) अगर आपका असर जॉन एलिया पर पड़ा, तो कहा जा सकता है कि आपके महज़ मंज़रकशी से जुड़े शेर में एक जीता-जागता किरदार पैदा करके उन्होंने जान डाल दी और अगर उनका असर आप पर पड़ा, तो यही कहा जा सकता है कि नतीजा बहुत अच्छा नहीं आया। ये भी हो सकता है कि आप दोनों में से किसी ने किसी पर कोई असर न डाला हो, बस यूँ ही ज़मीनें टकरा गयी हों। इस मामले को ज़ियादा तूल न देकर आपके 'आत्मकथ्य' में दी गयी ग़ज़ल की ओर लौटते हैं, जिसमें ये भी शेर है—

इस क़दर टूटे हुए चेह्रे नहीं हैं
जिस क़दर टूटे हुए ये आईने हैं
(दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 240)

इसके पहले मिस्रे में बिना क़ाफ़िये के रदीफ़ 'हैं' मौजूद है। रदीफ़ों की इस टक्कर को 'तक़ाबुल-

ए-रदीफ़ैन' नाम का ऐब गिना जाता है। इस ग़ज़ल के क़ाफ़ियों 'सामने' के 'म', 'बने' के 'ब', 'तने' के 'त', 'सने' के 'स' और 'अनमने' के 'म' में स्वर 'अ' यानी 'ज़बर' है, तो 'आईने' में स्वर 'इ' यानी 'ज़ेर' है और झुनझुने' के दूसरे 'झु' में स्वर 'उ' यानी 'पेश' हैं, इसलिए बाद के ये दोनों क़ाफ़िये ग़लत हैं। आपके यहाँ रदीफ़ और क़ाफ़िये की और भी ग़लतियाँ हैं, जिन ग़लतियों का पता मुझे 'हिन्दी ग़ज़ल : कुछ मीन-मेख' लिखते हुए चल गया था, उनका भी ज़िक्र कर देना ज़रूरी है— ''अब हम कुछ ऐसी मिसालें देखेंगे, जिसमें क़ाफ़िये का क़ाफ़िया तंग हुआ है। सबसे पहले दुष्यन्तकुमार की एक ग़ज़ल का उदाहरण लेंगे। ग़ज़ल का मत्ला है—

भूख है तो सब्र कर रोटी नहीं तो क्या हुआ
आजकल दिल्ली में है ज़ेरे-बहस ये मुद्दआ

इसमें 'हुआ' और 'मुद्दआ' क़ाफ़िये हैं। इस ग़ज़ल के दूसरे शेरों के कुछ अन्य क़ाफ़िये हैं— (१) 'छुआ' (२) 'बद्दुआ' (३) 'साँवला' (४) 'सुआ'। ये सारे क़ाफ़िये एकदम सही हैं, लेकिन इसी ग़ज़ल में (१) 'कुआँ' (२) 'धुआँ' और (३) 'खिड़कियाँ' के भी क़ाफ़िये हैं, जो पहली नज़र में ही ग़लत साबित हो जाते हैं। इनकी चन्द्रबिन्दियाँ ग़ज़ल में चन्द्र लगाने के बजाय दाग़ लगा देती हैं। इसी ग़ज़ल में ग़लत क़ाफ़ियों से बना हुआ एक शेर मत्ले की शक्ल का है। उसे भी देखें—

क्या वजह है प्यास ज़्यादा तेज़ लगती है यहाँ
लोग कहते हैं कि पहले इस जगह पर था कुआँ

इससे ऐसा लगता है कि एक बह्र में होने के नाते अलग-अलग क़ाफ़ियों की दो ग़जलें एक ही में गड्डमड्ड हो गयी हैं। दुष्यन्तकुमार की ही एक ग़ज़ल और है, जिसका मत्ला इस प्रकार है—

आज सड़कों पर लिखे हैं सैकड़ों नारे न देख
घर अँधेरा देख तू, आकाश के तारे न देख

इस ग़ज़ल के अन्य सही क़ाफ़िये 'मारे', 'प्यारे' और 'अंगारे' हैं, लेकिन इसी ग़ज़ल के तीन शेरों में 'पतवारें', 'तलवारें' और 'दीवारें' शब्द क़ाफ़िये की जगह आये हैं, जो किसी भी हालत में दुरुस्त नहीं कहे जा सकते। क़ाफ़िये में शब्द ही नहीं अनुस्वार की भी अहम हैसियत होती है।''
('परिवेश': 28, जनवरी-मार्च, 1997, पृ. 26-27)
उसी तहरीर में रदीफ़ के सिल्सिले में कही गयी ये बात भी याद आ रही है— ''क़ाफ़िये के साथ ही हम दुष्यन्तकुमार की रदीफ़ की असावधानी भी देखते चलें। उनका एक शेर है—

पक गयी हैं आदतें, बातों से सर होंगी नहीं
कोई हंगामा करो, ऐसे गुज़र होगी नहीं

'सर' और 'गुज़र' का क़ाफ़िया तो मिलता है, लेकिन पहले मिस्रे की रदीफ़ में एक शब्द है 'होंगी', जो कि बहुवचन है, दूसरे मिस्रे की रदीफ़ में उसके बदले 'होगी' शब्द है, जो कि एकवचन है। यहाँ रदीफ़ में अनुस्वार किरकिराहट पैदा कर रहा है।'' (वही, पृ. 27)

'बेला' में किये गये 'निराला' के इस दावे कि— ''बढ़कर नयी बात ये है कि अलग-अलग बह्रों की ग़ज़लें भी हैं, जिनमें फ़ारसी के छन्दशास्त्र का निर्वाह किया गया है।'' (निराला रचनावली : दो, पृ. 338) और सलीम 'अश्क' को दी गयी आपकी इस सफ़ाई कि— ''वैसे मैं ग़ज़लें इन बन्दिशों के पालन के लिए नहीं कहता।'' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 365) के बावजूद आप दोनों की ग़ज़लों में बह्र की भूलें रह ही गयी हैं। वो आख़िर क्यों रह जाती थीं, इस फ़िक्र के तहत छानबीन करते हुए 'हिन्दी में ग़ज़ल के शिल्प की कुछ उलझनें' नाम की तहरीर में मैं इस नतीजे पर पहुँचा था— ''तक़्तीअ के तरीक़ों पर जब ग़ज़लगो ठीक से ग़ौर नहीं करते, तो बह्र में भूलें जगह बना लेती हैं। भूलों के सिल्सिले में बिल्कुल आज के शायरों की मिसालें देकर

बात को बदमज़ा और भड़काऊ बनाने की अब ज़रूरत नहीं रह गयी है। इस तरह की भूलें 'निराला' और दुष्यन्तकुमार ने भी की थीं। एकाध मिसालें तक़्तीअ करके देखें—

। ऽ ऽ ऽ, । ऽ ऽ ऽ, ऽ । ऽ ऽ, ऽ । ऽ
उलट तख़्ता उपज की ताक़त बढ़ाने के लिए
ऽ । ऽ ऽ, ऽ । ऽ ऽ, ऽ । ऽ ऽ, ऽ । ऽ
डाल मत खेतों में अपनी खाद तू जब तक न कर (निराला)
ऽ । ऽ ऽ, ऽ । ऽ ऽ, ऽ । ऽ ऽ, ऽ । ऽ
मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूँ
ऽ । ऽ ऽ, ऽ । ऽ ऽ, ऽ । ऽ । ।, ऽ । ऽ
हर ग़ज़ल अब सल्तनत के नाम एक बयान है (दुष्यन्तकुमार)

भूलों के बावजूद दोनों शेर रमल मुसम्मन महज़ूफ़ बहर में कहे गये हैं। हुआ इतना है कि 'निराला' के शेर के पहले मिस्रे के पहले दो रुक्नों में ऽ । ऽ ऽ की जगह । ऽ ऽ ऽ आ गये हैं, जबकि दुष्यन्तकुमार के शेर के दूसरे मिस्रे के तीसरे रुक्न में उसकी जगह ऽ । ऽ । । रुक्न आ गया है। मैं ये क़ुबूल करता हूँ कि इसे किसी भी हाल में दुरुस्त नहीं कहा जा सकता, मगर सोचना ये चाहिए कि ऐसा हुआ क्यों? ऐसा हुआ इसलिए कि ऽ । ऽ ऽ की मात्राएँ । ऽ ऽ ऽ और ऽ । ऽ । । के बराबर हैं और मात्रिक छन्द में मिलनेवाली छूट के संस्कारों के चलते ये रुक्न एक-दूसरे से बदल गये। उर्दू-बह्रों में मात्राओं की बराबरी काफ़ी नहीं है। ज़रूरी ये है कि लघु के मुक़ाबले लघु और गुरु के मुक़ाबले गुरु ही आये। ठीक वैसे ही जैसे संस्कृत के वृत्तों में अनिवार्य है। एक तरह से देखा जाय तो उर्दू की बह्रों में संस्कृत के वृत्तों के ही सख़्त नियमों की वापसी दिखलायी देती है, लेकिन हिन्दी में हर्फ़ों के लिखे जानेवाले रूपों की जगह बोले जानेवाले रूपों को ही तर्जीह दी जाती है।'' ('अनभै साँचा', आधुनिक उर्दू-ग़ज़ल पर केन्द्रित विशेषांक, जनवरी-मार्च 2010, पृ. 10-11)

फ़ॉर्म को लेकर आपकी ये लापरवाहियाँ कहीं अपनी मक़्बूलियत के नशे में चूर उस 'संगत' की वज्ह से तो नहीं थी, जिसका ज़िक्र विजयबहादुर सिंह ने इन लफ़्ज़ों में किया है— ''उनका शुरूआती उठना-बैठा और मेलजोल ज़्यादातर कवि-सम्मेलनी, कवि-धुरन्धरों — रमानाथ अवस्थी, बलवीर सिंह 'रंग' — जैसे लोगों से था।'' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : एक, पृ. 43) फ़ॉर्म की बातें छोड़कर अब आपकी विचारधारा की ओर मुड़ते हैं। इसमें कोई शुब्हा नहीं कि आप अपने माहौल पर बहुत तेज़ निगाहें रखते थे, लेकिन ख़ुद को बख़्श देते थे। इसकी वज्ह आपके मद्दाहों (प्रशंसक) की भीड़ ही हो सकती है।

आपके मद्दाहों(प्रशंसकों) में आपको ख़ुदा मानने की होड़ लगी रहती थी। उन्हीं में 'सारिका' के सम्पादक कमलेश्वर, 'धर्मयुग' के सम्पादक धर्मवीर भारती, 'कल्पना' के सम्पादक बद्रीविशाल पित्ती और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादक मनोहरश्याम जोशी जैसे लोग भी थे, जो किसी पर मेह्रबानी की एक नज़र डाल देते थे, तो वो तिल से ताड़ बन जाता था। आपके मित्र कमलेश्वर ने तो ये तक किया था कि 'सिर्फ़ कहानी' की पत्रिका 'सारिका' में आपकी ग़ज़लें प्रकाशित की थीं। क्या आपसे पहले कभी ग़ज़लें कही ही नहीं गयी थीं या आपसे पहले किसी शायर ने वक़्त के हुक्मरानों की इतनी तेज़ आलोचना ही नहीं की थी? आपके एक मद्दाह विजयबहादुर सिंह तो यहाँ तक कह गये हैं— ''उर्दू के मीर और ग़ालिब के बाद खड़ीबोली हिन्दी के जिस शायर को ऐसी लोकप्रतिष्ठा मिली हुई है, वह दुष्यन्तकुमार ही हैं।'' (वही, पृ. 82) अगर उन्होंने आपके माथे पर मक़्बूलियत का चन्दन घिस-घिसकर लगाने की जगह आपकी रचनाओं पर ग़ौर किया होता, तो कुछ 'प्रारम्भिक ग़ज़लें' उन्वान के तहत '*तुम्हारा देश तुम्हारे जीवन में औ सपनों में भर गया,*'

(दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 248-49), *'संगीत महलों की झनकार में नहीं'* (वही, पृ. 256) और *'मैं कई मंज़िलें चल सकता था और'* जैसी रचनाएँ न देते, जिन्हें 'गीत' या 'कविता' कुछ भी कह लें, मगर 'ग़ज़ल' तो नहीं ही कह सकते।

इन सभी का आपका मद्दाह बन जाना आपके लिए जितना ख़तरनाक बना, उससे ज़ियादा ख़तरनाक बन गया खुद आपका अपना मद्दाह बन जाना। अगर ऐसा न हुआ होता तो 'जे. पी. आन्दोलन' को लेकर कमलेश्वर के ज़रिअे उठाये गये शुब्हे— ''कि सारा आन्दोलन तो तत्त्ववादियों के कुचक्र में फँसा हुआ है...'' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : एक, पृ. 104) पर ग़ौर करने की जगह इस तरह की सफ़ाई देकर न रह जाते— ''तुम जन-उभार को नहीं देख रहे हो, मैं इसी राष्ट्रीय आन्दोलन का साथी हूँ। मेरी ग़ज़लें भी इस परिवर्तन की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भागीदारी कर रही हैं।'' (वही, पृ. 104) आपने एक ग़ज़ल कही थी— *'कहाँ तो तय था चिराग़ाँ हरेक घर के लिए / कहाँ चिराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए।'* (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 261) 'इन्दिरा जी के नाम एक ग़ज़ल' उन्वान से भी ये ग़ज़ल देखी जा सकती है, जिसके इन दो शेरों का मत्न(पाठ) कुछ अलग है—

कहाँ तो तय था चिराग़ाँ हरेक घर लिए
कहाँ दिया भी मयस्सर नहीं शहर के लिए
उन्हीं से पूछना फूलों का रंग कैसा है
जिन्होंने उम्र गँवायी है गुलमोहर के लिए (वही, पृ. 345)

क्या आपको इस बात का बिल्कुल पता नहीं चला कि 'इन्दिरा जी के नाम ग़ज़ल' उन्वान की वज्ह से आपकी अस्ल ग़ज़ल के इशारे काफ़ी महदूद(सीमित) हो गये? जो ग़ज़ल आज़ादी के बाद के तमाम क़ौमी हुक्मरानों और तरह-तरह के राइटिस्ट और लेफ़्टिस्ट सियासती हुक्मरानों की आलोचना करने की ताक़त रखती थी, वो सिर्फ इन्दिरा गाँधी की ही आलोचना करने की हद तक इकहरी बनकर रह गयी? आपका एक शेर है—

एक बूढ़ा आदमी है मुल्क में या यों कहो
इस अँधेरी कोठरी में एक रौशनदान है (वही, पृ. 288)

इस शेर की वज़ाहत(स्पष्टीकरण) में आपके मद्दाह विजयबहादुर सिंह ने आपसे जुड़े जिस वाक़िअे का ज़िक्र किया है, उससे ये भले न पता चले कि वो आपकी तारीफ़ कर रहे हैं या बुराई, लेकिन उसे सुन ज़रूर लें— ''वे बताने लगे, 'जानते हो, इधर इन ग़ज़लों को लिखने पर मेरे साथ क्या हुआ, वो अपने राष्ट्रपति फ़ख़रुद्दीन अली अहमद ख़ाँ विदेश गये, तो बी. बी. सी. वालों ने उनसे पूछ लिया कि ये कौन-सा शायर है, जो इस तरह लिख रहा है? क्या आप उसे जानते हैं? और उन्हें वो 'एक बूढ़ा आदमी' वाला शेर सुना भी दिया गया। दिल्ली से इनक्वायरी प्रदेश सरकार के मार्फ़त आयी है कि शायर से पूछा जाय कि ये 'बूढ़ा आदमी' कौन है? वो आपातकाल के दिन थे। मैंने देखा कि अचानक उनके चेह्रे की वो आकस्मिक सख़्ती लुप्त हो गयी और शरारत और ज़िन्दादिली के भाव उभर आये। उन्होंने कहा— 'मैंने शासन को जवाब में लिख दिया है कि वो बूढ़ा आदमी विनोबा भावे हैं।'' और फिर उनके चेहरे पर विजय जैसा भाव आ गया। शायद वो मुझसे कहना चाहते थे कि लेखक को ऐसे निज़ाम में गोरिल्ला युद्ध करना पड़ता है। उसे भिड़ना भी पड़ता है और दुश्मन की ताक़त देखते हुए आत्मरक्षा के तौर-तरीक़े भी खोजकर रखने पड़ते हैं। दुष्यन्त को ये तरीक़े ख़ूब आते थे। अपने पिता से उन्होंने गाँव के मुक़द्दमों के दौरान इस तरह की चालें और तर्कीबें सीखी थीं।'' (वही, पृ. 14-15)

इस बयान से और चाहे जो कुछ भी ज़ाहिर हो, लेकिन ये ज़ाहिर नहीं होता कि आपका

सीधा जुड़ाव किसी सियासी तह्रीक से था। इससे आपके लिखे हुए की अहमियत घट नहीं जाती। मुक्तिबोध की किताब 'भारत : इतिहास और संस्कृति' जब लिखी गयी, तब वो किसी सियासी तहरीक से जुड़े हुए नहीं लग रहे थे। जब उस किताब पर पाबन्दी लगायी गयी, तब रमेश मुक्तिबोध के मुताबिक़ वो कहा करते थे— ''मेरी किसी मौलिक रचना को आपत्तिजनक मानकर सरकार पाबन्दी लगाती तो कोई बात बनती, किन्तु वस्तुत: जो सर्वथा मेरी मौलिक रचना नहीं है वो किस प्रकार आपत्तिजनक घोषित हुई, ये कोई मुझे समझा दे।'' (मुक्तिबोध रचनावली : छह, पृ. 407-408) सियासी तह्रीक से सीधे जुड़ाव की वज्ह से न फणीश्वरनाथ 'रेणु' या नागार्जुन की तरह आपको जेल हुई, न आपकी रचनाओं पर मुक्तिबोध की रचना की तरह कभी पाबन्दी लगायी गयी। मक़्बूलियत आपको ज़रूर बेहिसाब मिली; मगर ये तो आपको तब भी हासिल थी, जब आप कवि-सम्मेलनी गीत लिख रहे थे या धर्मवीर भारती को लुभानेवाली 'नयी कविता' लिख रहे थे। एक तरह से आपकी मक़्बूलियत आपकी अलमअंगेज़ क़िस्मत बनकर रह गयी थी। चूँकि आप मुक्तिबोध, नागार्जुन, त्रिलोचन की ही रिवायत से नहीं, जोश मलीहाबादी, फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़', हबीब जालिब की भी रिवायत से जोड़कर नहीं देखे गये, इसलिए आपके मद्दाहों को लगने लगा कि आपके सिवा 'रास्तों में एक भी बरगद नहीं है।' (दुष्यन्तकुमार रचनावली : दो, पृ. 279) ये तो और भी बुरा हुआ कि आप 'सिर्फ़ ग़ज़ल' या 'सिर्फ़ हिन्दी-ग़ज़ल' पर फ़िदा बौने देवताओं के ख़ुदा बनकर रह गये।

आपका
सुल्तान अहमद




ग़ज़लकार
अंक-4 की सम्भावित सामग्री

ग़ज़ल के मूलभूत तत्त्वों पर **मोईद रशीदी** का विस्तृत आलेख

** ** **

परवीन शाकिर की शायरी में विद्रोही चेतना की **वागीश शुक्ल** द्वारा गहन छानबीन

पाकिस्तानी ग़ज़ल के नये रुजूहानात पर **डॉ. ख़ालिद अल्वी** का विश्लेषण

जम्मू-कश्मीर में दौरे-हाज़िर के ग़ज़लकारों पर **लियाक़त जाफ़री** का मज़्मून

** ** **

नासिर काज़मी की जदीदियत पर **डॉ. इबादत बरेलवी** का एक यादगार लेख

अमीर क़ज़लबाश की ग़ज़लों पर **मख़्मूर सईदी** की समीक्षात्मक टिप्पणी

फ़रहत एहसास की ग़ज़लों की ख़ास बातें **ख़ुर्शीद अकरम** द्वारा

आलम ख़ुर्शीद पर **दीपक रूहानी** का आलोचनात्मक लेख

** ** **

अंक-३ में अस्लम इलाहाबादी के लेख का चौथा भाग

अंक-३ में याहिया नशीत के शोध आलेख का दूसरा भाग

अंक-३ में वसीम बरेलवी की आत्मकथा का चौथा भाग

** ** **

मलिकज़ादा मंज़ूर अहमद के संस्मरण

** ** **

सवाल **ज़फ़र इक़्बाल** के और जवाब **शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी** के

** ** **

सूर्यभानु गुप्त की ग़ज़लों की **हरेराम समीप** द्वारा पड़ताल

हिन्दी-ग़ज़ल के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर कमलेश भट्ट 'कमल'

पर **आसिम पीरज़ादा** का आलोचनात्मक आलेख

** ** **

साथ ही कुछ नये ग़ज़ल-संग्रहों की समीक्षाएँ

और दो महत्त्वपूर्ण शायरों के कलाम




मधु खराटे
राजेश्वर नगर, प्रोफ़ेसर कॉलोनी
भुसावल- 425201 (महाराष्ट्र)
मो.- 09422567778

डॉ. मधु खराटे, 'कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय' बोदवड़, जलगाँव, महाराष्ट्र में हिन्दी विभागाध्यक्ष हैं तथा महाराष्ट्र हिन्दी परिषद के अध्यक्ष भी हैं। साठोत्तरी हिन्दी-गज़ल तथा अहिन्दी भाषियों द्वारा हिन्दी-साहित्य में योगदान पर कई लेख तथा पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। महाराष्ट्र में हिन्दी-ग़ज़ल के प्रति अलख जगाने और आलोचनात्मक सृजन करनेवाले महत्त्वपूर्ण लोगों में मधु खराटे का नाम अत्यन्त सम्मानपूर्वक लिया जाता है।

ज़हीर क़ुरैशी हिन्दी-ग़ज़ल के क्षेत्र में परिचय के मोहताज नहीं हैं। इनके अनेक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और शीघ्र ही 'निकला न दिग्विजय को सिकन्दर' नाम से एक ग़ज़ल-संग्रह तथा 'कुछ भूला कुछ याद रहा' नाम से एक संस्मरण-संग्रह (दोनों 'अंजुमन प्रकाशन', इलाहाबाद) प्रकाशित होनेवाला है। हिन्दी-ग़ज़ल की कोई भी चर्चा बिना ज़हीर साहब का नाम लिए अधूरी है। इन पर कई लघुशोध तथा कुछ शोधकार्य सम्पन्न हो चुके हैं।

मधु खराटे

ज़हीर क़ुरैशी की ग़ज़लों का मनोवैज्ञानिक पक्ष

ज़हीर क़ुरैशी विलक्षण ग़ज़लकार हैं। उनकी शेर कहने की प्रतिभा बहुमुखी है। वे जीवन को हर कोण से देखते और नज़्म करते हैं। अगर उनके सामाजिक सरोकारों के शेरों में झाँका जाये तो लगता है उनसे बारीक सामाजिक अध्ययन के शेर किसी भी ग़ज़लकार के यहाँ नहीं हैं। राजनीतिक सन्दर्भों के शेर भी उनके यहाँ बहुकोणीय हैं। शेरों में जितना स्त्री-विमर्श ज़हीर क़ुरैशी ने किया है, उतना किसी हिन्दी-ग़ज़लकार के काव्य में नहीं मिलता। वे नारी-मन में नारी बनकर (परकाया-प्रवेश) झाँकते हैं और उसके हर्ष, विषाद, अन्तर्द्वन्द्ध, पीड़ा, कूटनीति, सहनशक्ति, करुणा, ममता और प्रेम जैसे अनेक विषयों पर अद्‌भुत शेर कहते हैं।

ज़हीर क़ुरैशी के जिन शेरों पर विस्तार से चर्चा नहीं हुई है– वे हैं उनके मनोवैज्ञानिक शेर। ज़हीर मानव-मन के अद्वितीय चितेरे हैं। वे मनुष्य-मन में घुसते हैं तो उसकी परतों को कुछ इस तरह खोलते हैं कि अवाक् रह जाना पड़ता है। ऐसे अद्वितीय शेरों का विश्लेषण पाठक या श्रोता को स्वयं करना पड़ता है, क्योंकि शेर इशारा भर करते हैं, वे छन्द-मुक्त कविता की तरह पूरी कहानी बयान नहीं करते। चलिए, अब मनोवैज्ञानिक शेरों के माध्यम से ज़हीर क़ुरैशी के मनोविश्लेषण स्वरूप की पड़ताल करते हैं।

जीवन के चक्र में, हर माता-पिता अपनी औलाद का इसलिए पालन-पोषण करते हैं कि उनके अशक्त(बूढ़े) होने पर, बच्चे उनकी देखभाल करेंगे, लेकिन इक्कीसवीं सदी में बाल-बच्चे जिस तरह से आत्मकेन्द्रित हो रहे हैं, उनमें अब माता-पिता का स्थान नहीं। समाज की नयी स्थिति हृदय-विदारक है। इस नयी स्थिति पर ज़हीर एक मार्मिक शेर कहते हैं–

हमारे बच्चे अगर पूछते नहीं हमको
हम, इस तरह भी, निसन्तान होते जाते हैं

इस तरह आज के दौर के इस करुण मनोवैज्ञानिक शेर में ज़हीर सन्तानहीन होने की एक नयी परिभाषा भी गढ़ते हैं। औसत तौर पर नि:सन्तान उस दम्पत्ति को कहा जाता है– जिसके बच्चे नहीं होते, लेकिन सन्तान होने के बावजूद व्यक्ति नि:सन्तान कैसे हो सकता है– इसकी पुष्टि उपर्युक्त शेर करता है। ज़हीर क़ुरैशी के इस शेर को 'एक्सपांशन ऑफ़ पोइट्री' भी माना जा सकता है। उनका एक अन्य मनोवैज्ञानिक शेर है–

हीरे की बदकारी पर हीरे से ज़ियादा
लोग गालियाँ देने लगते हैं खदान को

ये शेर हमारे समाज की सामन्तवादी मानसिकता का विश्लेषण करता है। अपराध और न्याय की दृष्टि से अगर बेटे ने बदकारी की है तो उसका दण्ड बेटे को मिलना चाहिए, लेकिन ऐसी परिस्थिति

में समाज के लोग अभियुक्त की माँ(या पिता) के चरित्र पर लांछन लगाने लगते हैं। ये सामाजिक न्याय बरसों से प्रचलित है और निरपराध लोगों को आहत करता रहा है। ग़रीब आदमी जानता है कि मेह्नत से तो वो लखपति बनने से रहा, इसलिए हर दरिद्र, दबा-कुचला अपने जीवन में चमत्कार की उम्मीद करता रहता है, लेकिन चमत्कारों की उम्मीद करनेवाले ग़रीब का मनोजगत् चमत्कार को कैसे ग्रहण करता है, इस सन्दर्भ में ज़हीर क़ुरैशी का एक शेर है–

हम चमत्कारों में विश्वास तो करते हैं, मगर
हम ग़रीबों को चमत्कार से डर लगता है

जो चमत्कार ग़रीब के जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन कर सकता है, उससे मन-ही-मन दहशत मनुष्य-मन की सच्चाई है। जिसे क़ुरैशी सहज रूप से बयान करते हैं–

मुस्कुराने में फँस गये इतने फूल के बाद फल न हो पाये

वनस्पति विज्ञान में प्रजनन का एक चक्र है। कली खिलती है तो फूल बनती है। एक निश्चित अवधि तक फूल की मुस्कान दुनिया को(देखनेवालों को) लुभाती है। उसके बाद फूल मुरझाता है, उसकी रंगीन पंखुरियाँ झरती हैं। उसी के बाद, फल का परिवर्धन होता है। ये प्रकृति का नियम है, लेकिन ज़हीर क़ुरैशी कुछ ऐसी कलियों को भी जानते हैं जो अपनी मुस्कान.....दूसरों को आकर्षित करने के मोहपाश में ऐसी फँसती हैं कि फल बनने की नौबत ही नहीं आती है। बॉलीवुड की अनेक अभिनेत्रियों से लेकर तमाम जगह इस तरह के उदाहरण देखे जा सकते हैं। ज़हीर क़ुरैशी के शेरों में झाँकने पर ऐसे अनेक विरल निष्कर्ष सामने आते हैं। अगर सच पूछा जाए तो हर व्यक्ति अपने चेह्रे की मौलिक रेखाओं के प्रति आश्वस्त नहीं होता। कोई अपने चेह्रे में सलमान की सूरत देखता है तो कोई करीना या कैटरीना की। हर काल में प्रतिमान बदलते रहते हैं, लेकिन मनुष्य का मनोविज्ञान नहीं। ज़हीर उसी मनोविज्ञान पर अद्भुत शेर कहते हैं–

आईने को देखते रहना बुरी आदत नहीं
किन्तु अपनी शक्ल में तू दूसरा चेह्रा न देख

आज का युग दोस्ती के अभिनय का समय है, दोस्ती के निर्वाह का नहीं। सच्चे दोस्तों की तो अब कल्पना ही की जा सकती है। ज़हीर इस वास्तविकता को आत्मसात् करते हैं और एक निष्कर्षात्मक शेर कहते हैं–

दोस्तों से राय लेना व्यर्थ लगता है मुझे
दोस्त मुझको राय देते हैं, मेरा 'स्वर' देखकर

'स्वर' देखकर दोस्तों का राय देना, ज़हीर का अद्भुत मनोविश्लेषण है। ऐसा शेर हिन्दी-काव्य में ज़हीर क़ुरैशी ही कह सकते हैं। जो मज़्दूर दिन भर हाड़-तोड़ मेहनत करते हैं, वो लेटते ही सो जाते हैं। उनकी नींद में स्वप्न तक नहीं होते। ज़हीर क़ुरैशी उन मेह्नतकशों के श्रम को कुछ इस दृष्टि से देखते हैं–

मैंने दिन भर की उसकी मेह्नत को
रात भर की थकान से देखा

रात भर की थकान से दिन भर की कड़ी मेह्नत का अनुमान लगाना, एक मनोवैज्ञानिक कवि का ही कारनामा हो सकता है। ज़हीर क़ुरैशी के शेरों से गुज़रते हुए ऐसा लगता है जैसे जीवन की छोटी-से-छोटी वस्तु, घटना, भाव या क्रिया-कलाप भी उनकी कविता का विषय हो सकता है। ज़िन्दगी जीते हुए, वे हर क्षण पर नज़र रखते हैं, उसमें रमते हैं, उसका मज़ा लेते हैं। कविता उनके लिए कोई बहुत तैयारी की अपेक्षा नहीं करती।

आज का काल-खण्ड औसत आदमी को भी बड़ा अभिनेता बना रहा है। वो अपने

मनोभावों को छिपाते हुए आपसे मुख़ातिब है। चूँकि आदमी की संवेदना दिन-ब-दिन कम से कमतर होती जा रही है, अत: अधिकांश लोगों को तो इस दोहरेपन का अनुमान भी नहीं हो पाता, लेकिन ज़हीर क़ुरैशी उस अव्यक्त को भी देख लेते हैं और कहते हैं—

ख़ुशी मुख पर प्रवासी दिख रही है
हँसी में भी उदासी दिख रही है

ग़ज़ल का ये मत्‌ला पढ़ते ही मन पर एक अजीब-सा असर होता है। ख़ुशी का व्यक्ति के चेह्‌रे पर प्रवासी(एन आर आई) की तरह प्रकट होना ही पूरी बात कह जाता है। फिर हँसी पर भी उदासी की छाया पूरी मन:स्थिति को व्यक्त कर देती है। ऐसे मत्‌ले या शेर व्याख्या के नहीं, मह्‌सूस करने के विषय हैं। लगभग इसी भावभूमि का ज़हीर का एक शेर और है—

खिलखिलाना भी न कोई काम आया
दर्द की छाया अभी तक है हँसी में

ऐसा अनेक बार होता है, जब आदमी के मन पर अपराध या अवसाद जैसा कोई बोझ होता है; तो जिस प्रसंग पर लोग ठहाका लगाते हैं, वो केवल मुस्कुरा कर रह जाता है। इस मन:स्थिति को 'क्लिक' करना आसान काम नहीं है। ज़हीर क़ुरैशी अच्छी तरह जानते हैं कि मुख पर सहज, स्वाभाविक, मीठी मुस्कान तभी सम्भव है, जब आपके मन की क्यारी में असंख्य फूल खिले हों—

मीठी मुस्कानों की ख़ातिर मन में फूल खिलाकर रखना

ज़हीर मानते हैं कि जो लोग शब्दों द्वारा ईश्वर से कुछ माँगते हैं, उनकी प्रार्थना स्थूल होती है। प्रार्थना शब्दों से आरम्भ अवश्य हो सकती है, लेकिन सच्चे मन से की गयी प्रार्थना में अन्ततः शब्द साथ छोड़ जाते हैं। उनका एक इसी भावभूमि का मत्‌ला है—

मौन के गहरे समन्दर में कहीं खोने लगे
प्रार्थना के बीच में ही शब्द गुम होने लगे

शब्दरहित होने के बाद ही भक्त ईश्वर से मिल पाता है, बातें कर पाता है; उससे पहले नहीं। इस सन्दर्भ में ज़हीर कहते हैं—

जिनके आते ही सिमट जाता था शोर
मौन के ऐसे भी जादूगर गये

हो सकता है, आज इक्कीसवीं सदी की पीढ़ी को ये शेर अविश्वसनीय लगे, लेकिन ज़हीर कुरेशी की पीढ़ी ने घर से लेकर वृहत्तर समाज तक मौन के ऐसे जादूगरों को अपनी आँखों से देखा है। किसी का आभार व्यक्त करने के लिए, सचमुच शब्दों की आवश्यकता नहीं होती। आभार व्यक्त करने का अच्छा स्थान मौन ही है। ख़ासतौर से उन दबे-कुचलों के लिए, जिनको बोलने की भी आज़ादी नहीं—

वो शब्दों से नहीं, आँखों से उत्तर दे ही देते हैं
पहुँचते हैं हमारे भाव जब भी बेज़बानों तक

ज़हीर क़ुरैशी हर वस्तु को मूल से देखते हैं। वे महलों के कंगूरों पर मोहित नहीं होते। महलों के शीर्ष को देखते हुए भी उन्हें नींव के पत्थरों की याद रहती है। तभी तो कह पाते हैं—

जो हीरे हार में जड़कर चमकते हैं
कभी देखा भी है उनको खदानों में

शब्दों के उत्सव में रहते हुए भी ज़हीर क़ुरैशी को उन तिरस्कृत हाशियों की याद रहती है जो ज़िन्दगी के पृष्ठ को सजाते-सँवारते हैं। झुग्गी-झोपड़ियों की सहायता के बिना जगर-मगर महलों का जीवन एक दिन भी नहीं चल सकता। ज़हीर का एक शेर है—

इधर तो ज़िन्दगी के पृष्ठ पर शब्दों के उत्सव हैं
उधर उनके निकट ही चुप खड़े हैं हाशिये कितने

ज़हीर क़ुरैशी नारी-मन के अद्‌भुत चितेरे तो हैं ही, पुरुष-मन की गुत्थियाँ खोलने में भी उनका जवाब नहीं। उनका एक शेर है—

जो उड़ना चाहते हैं, उड़ नहीं पाते
वो जी भरकर पतंगों को उड़ाते हैं

ये शेर (ख़ास तौर से) पुरुष-मन की नयी तरह से व्याख्या करता है। अगर समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो पतंगें उड़ाना, पेंच लड़ाना उस वर्ग का शौक़ है जो 'सर्वहारा' है। उच्च वर्ग, अभिजात्य वर्ग के लड़के पतंगें नहीं, छोटे-छोटे विमान उड़ाते हैं। इन दबे-कुचले वर्ग के युवाओं की ऊँची उड़ान की इच्छाएँ पतंगों के माध्यम से ही व्यक्त होती रहती हैं। पुरुष-मन की गुत्थी खोलता उनका एक शेर और द्रष्टव्य है—

उन्हें पर्वत बदलता भी नहीं है
जो रस्ते हो गए दुर्गम, न बदले

ऊपर से ये शेर पर्वत और पगडण्डियों के अन्तर्सम्बन्ध का प्राकृतिक शेर लगता है, लेकिन अगर पर्वत को पिता मान लिया जाय, जिसके मान लीजिए चार सन्तानें हैं। पिता तो चारों को योग्य बनाने का प्रयत्न करता है। मान लीजिए तीन योग्य बन भी जाते हैं। उसी पिता का एक बेटा पिता के निर्देशों की अवहेलना करता हुआ 'दुर्गम' (अयोग्य) बन जाता है। अब इस शेर का एक नया अर्थ हाथ लगता है। एक हद तक कोशिश के बाद, पिता ऐसी दुर्गम सन्तानों को बदलना भी नहीं चाहता। कई बार ऐसे कपूत-शोहदे पिता के रक्षा-कवच भी बन जाते हैं। समाज के अनेक अराजक तत्त्व उस परिवार से खुड़पेंच इसलिए भी नहीं करते, क्योंकि उन्हें पता होता है कि उसका बेटा 'हिस्ट्रीशीटर' है। पितृ-सत्तात्मक समाज में इक्कीसवीं सदी में भी पुरुष की मानसिकता में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। शैक्षणिक और आर्थिक विकास के कारण, समाज में नारी ने अपनी क्षमताओं को सिद्ध किया है। आज के दौर में, पुरुष(पति) नारी(पत्नी) को समान-सुविधाएँ प्रदान करने को तो तैयार है, किन्तु समकक्ष स्थान देने के प्रश्न पर उसकी भौंहें तन जाती हैं। पुरुष मानसिकता के सन्दर्भ में ज़हीर क़ुरैशी का एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक शेर—

आपने पत्नी को सारे सुख बराबर के दिए
किन्तु, मिल सकती नहीं उसको बराबर की जगह

आदिकाल से पुरुष नारी को छल रहा है। आज की शिक्षित नारी उसके प्रपंच को समझने लगी है। फिर भी पुरुष सावधानी बरतने की नयी-नयी तकनीकें अपनाते हुए उसे अपने जाल में फँसा ही लेता है। पुरुष की इस मानसिकता पर ज़हीर क़ुरैशी का एक शेर—

कली पढ़ ले न छल की देह-भाषा
यहाँ तक सावधानी हो रही है

पुरुष की इसी मानसिकता पर थोड़ा मुखर शेर है–

आज ये फल चख लिया, कल दूसरा फल चख लिया
अपनी इस आवारगी का भी मज़ा लेते हैं लोग

मनुष्य 'अशरफ़ुल-मख़्लूक़ात' इसीलिए है कि प्रकृति ने उसे ज्ञानेन्द्रियाँ दी हुई हैं– इस इन्द्रधनुषी दुनिया को देखने, उसका आनन्द लेने के लिए, लेकिन इसी दुनिया में कुछ लाभ-केन्द्रित व्यक्ति होते हैं, जिनके पास कोई सौन्दर्यबोध नहीं होता। वे हर क्रिया-व्यवहार में केवल लाभ-हानि देखते हैं। ऐसे लोगों के लिए ज़हीर क़ुरैशी का एक शेर है–

उसने फ़स्लों से लगाया है रक़म का अन्दाज़
उसने देखा ही नहीं फ़स्लों का धानी होना

हर आदमी के जीवन में एकाध व्यक्ति ऐसा ज़रूर आता है, जिससे मिलना तो क्षणिक होता है, लेकिन हमारी किसी-न-किसी संवेदना के कारण वो जीवन भर याद रहता है। ये एक विरल अनुभूति है, जिसे अपने एक मत्ले में ज़हीर क़ुरैशी ने कुछ इस प्रकार बाँधा है–

जो कभी आया था पल भर को 'उड़न-छू' बनकर
आज तक मन में चमकता है वो जुगनू बनकर

मैं नहीं जानता कि ज़हीर क़ुरैशी ने ये शेर किस मन:स्थिति में कहा, लेकिन इसको पढ़कर अनायास मुझको लगा कि 'इन्तज़ार' की मन:स्थिति की इससे अच्छी पेण्टिग(शब्दों में) नहीं बनायी जा सकती–

या तो समय को राह में रुकना पड़ा कहीं
या मेरी रिस्ट-वाच की सुइयाँ ठहर गयीं

हिन्दुस्तानी औरत का आशावाद अनन्त होता है। वो पति(या प्रेमी) के सुधार की उम्मीद में लगभग पूरी ज़िन्दगी बिता देती है। ज़हीर कहते हैं–

ये बात सोच रही है वो कितने सालों से
वो कुछ महीनों के अन्दर ज़रूर बदलेगा

संसार में ऐसे तमाम लोग हैं, जो अपनी लाचारी का बढ़-चढ़कर बखान इसलिए करते हैं कि अधिक-से-अधिक सहायता मिल जाये, लेकिन यहीं से एक दूसरा खेल आरम्भ हो जाता है। ज़हीर का एक शेर देखिए–

ख़ुद अपने ही शोषण को करते हुए आमन्त्रित
जो ख़ुद को परसते हैं, लाचार की शैली में

ज़हीर कुरेशी जानते हैं कि बीसवीं और इक्कीसवीं सदी में सबसे ज़ियादा तरक़्क़ी 'मेडिकल साइंस' की हुई है। इसी कारण असाध्य रोगों के इलाज भी सम्भव हुए हैं। मृत्यु दर कम हुई है। वृद्ध लोगों की संख्या बढ़ी है, लेकिन ज़हीर के शेर के अनुसार–

घटे हैं तन के, मगर बढ़ गये हैं मन के रोग
हमारे दौर की बीमारियाँ बताती हैं

ये बिल्कुल सच बात है कि जैसे ही हम किसी व्यक्ति पर पूरी तरह अवलम्बित होते हैं, हम उसकी ग़लत बातों को भी ग़लत नहीं कह पाते। ज़हीर क़ुरैशी का एक शेर है—

उसके सम्मुख था कठिन प्रतिवाद भी
हम किसी पर इस क़दर निर्भर हुए

नारी और पुरुष का आकर्षण आदिकालीन है। आज भी लड़के-लड़कियाँ एक-दूसरे के निकट आते हैं, तन की सीमा का अतिक्रमण करते हैं और की गयी मीठी भूल को विस्मृत कर देते हैं, लेकिन ज़हीर क़ुरैशी की दृष्टि में एक नायक ऐसा भी आया, जिस पर उन्होंने शेर लिखकर आभार व्यक्त किया—

मीठी भूलें करनेवाले तो दुनिया में लाख मिले
भूल अगर की तो केवल उसने भी भूल-सुधार किया

मनुष्य की जिजीविषा, प्रगति की इच्छा, जोख़िम लेने का सुभाव जन्मजात है। अनेक बार पतंगें उसकी इसी आदत को व्यक्त करती हैं, वो ठोकर खाता है, गिरता है, लेकिन गिरकर फिर से उठने की प्रवृत्ति उसे अपराजेय बना देती है। इसी भावभूमि पर ज़हीर कुरेशी का एक शेर है—

पतंगें कट के गिरती हैं धरा पर
मगर उड़ती हैं अम्बर की दिशा में

ज़हीर कुरेशी के मनोवैज्ञानिक शेरों की दुनिया की सैर हमें ऐसी-ऐसी मानसिकताओं, ऐसी-ऐसी मन:स्थितियों की यात्रा कराती है जो मनुष्य-मन की नयी-नयी व्याख्याएँ हमारे सामने प्रस्तुत करती है। जैसे-जैसे हम उनके शेरों के समुद्र में ग़ोते लगाते हैं, भावों के नये-नये मोती हमारे साथ आते हैं। ज़हीर क़ुरैशी की ग़ज़लों में मानव-मन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोव्यापारों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, अर्थात् उनकी ग़ज़लों का मनोवैज्ञानिक पक्ष अत्यन्त सशक्त है।

FORM IV

Statement about ownership and other particulers about newspaper (six monthly magazine) -

1. Place of publication : Bhadari Kala, Lalganj, Pratapgarh(U.P.)PIN-230132

2. Periodicity of its publication : Six Monthly

3. Printer's Name : Deepak Tripathi
   Nationality : Indian
   Address : Bhadari Kala, Lalganj, Pratapgarh (U.P.) PIN-230132

4. Publisher's Name : Deepak Tripathi
   Nationality : Indian
   Address : Bhadari Kala, Lalganj, Pratapgarh (U.P.) PIN-230132

5. Editor's Name : Deepak Ruhani
   Nationality : Indian
   Address : Bhadari Kala, Lalganj, Pratapgarh (U.P.) PIN-230132

6. Name and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one percent of the total capital :
   Yathaasambhaw (A registered socity by U.P. Government)
   Bhadari Kala, Lalganj, Pratapgarh (U.P.) PIN-230132

I, Deepak Tripathi, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

(Deepak Tripathi)
Signature of Publisher

Date : 5 june 2015

सूर्यवंशी जयराम श्रीराम
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग
श्री संत गाडगे महाराज महाविद्यालय
लोहा, नांदेड़ (महाराष्ट्र)
मो.- 09960426038

महाराष्ट्र के शैक्षिक–क्षेत्र में जिस प्रकार हिन्दी–ग़ज़ल को लेकर उत्साह और फ़राख़दिली देखने को मिल रही है, वैसी उ. प्र. तथा अन्य हिन्दी–भाषी प्रदेशों में बिल्कुल नहीं। उ. प्र., म. प्र., बिहार, हरियाणा, पंजाब आदि प्रदेशों में हिन्दी–ग़ज़ल स्वतन्त्र रूप से फल–फूल रही है, मगर महाराष्ट्र में उच्चतर शिक्षा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित होकर पठन–पाठन और शोधकार्यों के माध्यम से इसका पिछले 15-20 वर्षों में उल्लेखनीय प्रभाव एवं महत्त्व बढ़ा है।

डॉ. जयराम महाराष्ट्र के उसी युवा वर्ग से सम्बन्धित हैं जो हिन्दी–ग़ज़ल के क्षेत्र में गम्भीरता से सक्रिय हैं। इनका लघुशोध ज़हीर क़ुरैशी की ग़ज़लों पर था और शोधकार्य का विषय था– 'बीसवीं शती के अन्तिम दशक का हिन्दी–ग़ज़ल साहित्य'। इसके अतिरिक्त इनके विभिन्न लेख–आलेख पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। भविष्य में इनसे हिन्दी–ग़ज़ल आलोचना को बेहतर अपेक्षाएँ हैं।

सूर्यवंशी जयराम श्रीराम

हिन्दी-ग़ज़ल में स्त्री-विमर्श

(विशेष सन्दर्भ : बीसवीं सदी का अन्तिम दशक)

भारतीय संस्कृति में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता:' कहकर नारी के सम्मान की बात की जाती है। फिर भी प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज में नारी का भिन्न-भिन्न स्तरों पर शोषण किया जाता रहा है, जो आज भी जारी है। प्राचीन भारतीय समाज में नारी का स्तर, चाहे वो किसी भी श्रेणी की हो, पद-दलित रहा है। मध्यकाल के कुछ सन्त कवियों ने उसे माया, महाठगिनी कहकर उससे हमेशा परहेज़ की बात की है। उसके बाद रीतिकालीन कवियों ने नारी के अंग-प्रत्यंग का सौन्दर्य वर्णन करके राजा-महाराजाओं का मनोरंजन किया और पैसा तथा प्रतिष्ठा पायी। किसी ने कभी उसके अन्तर्मन में झाँकने की कोशिश नहीं की। आगे आधुनिक-काल में नारी को यातना और पीड़ा से बाहर निकालने की कोशिश ज़रूर हुई, किन्तु आज भी सच्चाई ये है कि नारी समाज की आधी शक्ति होकर भी, पुरुष के लिए सदैव प्रेरणादायी होकर भी, उसे एक मर्यादा में, बन्धन में, चहारदीवारी के अन्दर जीवन जीना पड़ रहा है। माँ, बहन, पत्नी, बहू इन सभी रूपों में उसे प्रताड़ित किया जा रहा है। नारी की इस असहायता को वाणी देने के लिए हिन्दी-साहित्य में स्त्री-विमर्श का आरम्भ हुआ। स्त्री-विमर्श पर लिखनेवाले रचनाकारों ने नारी को मानवतावादी दृष्टि से देखकर उसे इन नारकीय यातनाओं, दूषित मर्यादाओं से बाहर निकालकर पुरुष की सहचरी के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। साथ ही स्त्रीवादी रचनाकारों ने ये सिद्ध करने की कोशिश की है कि स्त्री और पुरुष समाज के दो स्तम्भ हैं, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व अधूरा है। फिर भी भारतीय समाज की विडम्बना है कि नारी को पुरुष के समकक्ष कभी नहीं रखा।

भारतीय समाज में नारी-मुक्ति आन्दोलन पर दृष्टिक्षेप किया जाये तो ये स्पष्ट होता है कि नारी-मुक्ति के आन्दोलन का आरम्भ मध्यकाल में मीराबाई ने किया। उनका समूचा जीवन-संघर्ष ही स्त्री-मुक्ति का संघर्ष है। कहा जाता है कि जिस सती-प्रथा को बन्द करने के लिए राजा राममोहनराय को आन्दोलन करना पड़ा, उस सता-प्रथा के विरुद्ध सबसे पहले मीराबाई ने आवाज़ उठायी थी। उसके बाद आधुनिक-काल में यानी सन् 1920 से ही भारतीय स्त्री को बन्धनों से मुक्त कराने तथा उसे उसका हक़ दिलाने की कोशिश कुछ समाज-सुधारकों ने की है, जिसमें राजा राममोहनराय, महात्मा फुले, महर्षि धोंडो केशव कर्वे, स्वामी दयानन्द सरस्वती, सावित्रीबाई फुले, रमाबाई रानडे आदि प्रमुख हैं। उनके इसी कार्य को अपनी रचनाओं के माध्यम से पूरा करने का नैतिक दायित्व हिन्दी के कुछ रचनाकारों ने किया है।, जिसमें कुछ पुरुष रचनाकारों तथा कुछ महिला रचनाकारों का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। बीसवीं शती के अन्तिम दशक के हिन्दी ग़ज़लकारों ने भी नारी-विमर्श पर गहन चिन्तन किया है। इन ग़ज़लकारों में कुँवर बेचैन, ज़हीर क़ुरैशी, ज्ञानप्रकाश

विवेक, दीक्षित दनकौरी, अशोक अंजुम आदि ग़ज़लकार प्रमुख हैं।

आज नारी सशक्तिकरण और लैंगिक असमानता का मुद्दा बहस का विषय है। समानता के संवैधानिक अधिकार को प्रभावी बनाने पर बल दिया जा रहा है, फिर भी दुर्भाग्यवश नारी सशक्तिकरण आज उतना प्रभावी नहीं हो पा रहा है जितनी समाज की अपेक्षा है। अभी भी ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश महिलाएँ न तो अपने अधिकारों को जानती हैं न ही उनके महत्त्व को समझती हैं। तरह-तरह के सामाजिक लांछनों और बेड़ियों को नियति समझकर सहन कर लेना उनका स्वभाव-सा बन गया है। स्पष्ट है, आज़ादी के साठ साल बाद भी स्त्री-मुक्ति का आन्दोलन सफल नहीं हुआ है। आज भी स्त्री कमाती है किन्तु स्वतंत्रतापूर्वक ख़र्च करने का अधिकार उसे नहीं है। यदि वो पुरुषों पर आश्रित रहे तो देवी है, अन्यथा उसे कुलटा कहा जाता है।

अन्तिम दशक के हिन्दी-ग़ज़ल साहित्य में भारतीय नारी की इस स्थिति को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है और समकालीन नारी की तमाम यातनाओं, विडम्बनाओं को विश्लेषित किया गया है। आज़ादी के साठ साल बाद भी क़ानूनन् दहेज लेना और देना गुनाह होने के बाद भी भारतीय समाज में दहेज-प्रथा की भीषणता को सामान्य परिवार में जन्म लेनेवाली लड़कियों और उनके पिता को भुगतना पड़ रहा है। आज भी दहेज के लिए पैसे न मिलने के कारण कई लड़कियों का बेमेल विवाह किया जा रहा है। हमारे देश के कई पिछड़े गाँवों में आज भी ग्यारह-बारह साल की लड़कियों के विवाह उनसे दोगुनी उम्र के पुरुषों के साथ कर दिये जाते हैं, इसका कारण परिवार की आर्थिक विषमता है। कई लड़कियों ने परिवार की आर्थिक भीषणता को देखकर आत्महत्या की है या ग़लत रास्तों का अवलम्ब किया।

भारतीय समाज का सूक्ष्मता से अध्ययन करते समय ये ज्ञात होता है कि यहाँ के निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों में घरेलू हिंसा का प्रमुख कारण दहेज होता है, क्योंकि इन परिवारों का लड़का शादी के बाज़ार में अपने-आपको सबसे महँगी बिकाऊ चीज़ समझता है और अपनी पूरी क़ीमत न मिलने पर पत्नी को प्रताड़ित करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। इस कारण कई लड़कियों को जलाकर मारा जाता है तो कुछ लड़कियाँ ख़ुद अपनी लीला समाप्त कर लेती हैं।

अन्तिम दशक के हिन्दी-ग़ज़ल साहित्य में दहेज-प्रथा और इससे जुड़ी समस्याओं पर गहन चिन्तन किया गया है। इस सन्दर्भ में ग़ज़लकार दीक्षित दनकौरी और ज़हीर क़ुरैशी उस पिता की भीषण हालत को चित्रित करते हैं जिसकी लड़कियाँ जवान हैं किन्तु पैसे न होने के कारण उन लड़कियों का विवाह करने में असमर्थ है। ग़ज़लकारों के शब्दों में देखिए

उसकी रातों की नीदें उड़ीं
जिसकी बिटिया बड़ी हो गयी [1]

जो भी मिल जाता है, कहते हैं उसी से बापू
मेरी बेटी के लिए तुम भी कोई वर देखो [2]

ग़ज़लकार अशोक अंजुम अपने एक शेर में दहेज-प्रथा के भीषण परिणामों का ज़िक्र करते हुए कहते हैं, यदि दहेज-रूपी दानव के ज़ुल्म बढ़ते गये तो आनेवाले समय में कितनी ही मासूम लड़कियाँ ख़ुदकुशी करके अपनी जीवन-लीला समाप्त करेंगी। उन्हीं के शब्दों में—

यदि दहेजी दानवों के ज़ुल्म नित बढ़ते रहे
रेल के नीचे अनेकों बेटियाँ कट जायेंगी [3]

अन्तिम दशक के हिन्दी-ग़ज़ल साहित्य में नारी-जीवन को विश्लेषित करते हुए एक सामान्य औरत

के मज्बूरीवश वेश्या बनने की पीड़ा को भी अभिव्यक्त किया गया है। भारतीय समाज में वेश्याओं की मौजूदगी एक ऐसा चिरंतन सवाल है जिससे हर समाज, हर युग में अपने-अपने ढंग से जूझता रहा है। वेश्यावृत्ति को कभी लोगों ने सभ्यता की ज़रूरत बताया, कभी कलंक बताया, कभी परिवार की क़िलेबन्दी का 'बाइप्रोडक्ट' कहा और कभी सभ्य, सफ़ेदपोश दुनिया का गटर, जो उनकी काम-कल्पनाओं और कुण्ठाओं के कीचड़ को दूर अँधेरे में ले जाकर 'डम्प' कर देती है, लेकिन आज तक किसी ने भी एक सामान्य स्त्री के वेश्या बनने के कारणों को नहीं खोजा और न ही 'वेश्या भी एक औरत होती है' इस दृष्टि से उसकी ओर देखा। अन्तिम दशक की हिन्दी-ग़ज़ल में सामान्य औरत के वेश्या बनने के सफ़र को, उसके कारणों को और वेश्याओं की ओर देखने के समाज के नज़रिये को चित्रित किया है। ग़ज़लकार वशिष्ठ अनूप ने अपने ग़ज़ल-संग्रह 'बंजारे नयन' में नारी-जीवन की तमाम त्रासदी को विश्लेषित करते हुए एक सामान्य स्त्री के मज्बूरीवश वेश्या बनने के सफ़र को चित्रित किया गया है। हिन्दी की महिला कथाकार मधु कांकरिया ने 'सलाम आख़िरी' उपन्यास में सामान्य स्त्री के वेश्या बनने के कारणों पर विस्तृत चर्चा करते हुए कहा है कि— "85 प्रतिशत वेश्यावृत्ति जीवन की चरम त्रासदी में भूख के मोर्चे के विरोध में अपनायी जाती है। 10 प्रतिशत वेश्यावृत्ति धोखाधड़ी से उपजती है; ये धोखाधड़ी प्रेम के झूठे वादे, नौकरी का प्रलोभन, शह्री चकाचौंध से लेकर एक उच्च और सम्मानित जीवन के सब्ज़बाग़ दिखाने तक होती है।"[4] स्पष्ट है कि एक स्त्री के वेश्या बनने का मुख्य कारण परिवार की आर्थिक दुर्दशा है। वशिष्ठ अनूप भी इसी बात को अपने एक शेर के माध्यम से बयान करते हुए कहते हैं—

रोटियाँ महँगी हैं या महँगी है इज़्ज़त-आबरू
चल रहा घोर झंझावात रूपा सोचती है[5]

ज़हीर क़ुरैशी औरत की विवशता का कारण वक़्त की उलट-फेर मानते हैं। वक़्त की उलट-फेर से तात्पर्य है सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक परिस्थितियों की मज्बूरियों के सबब सामान्य औरत का वेश्या बनना। औरत की इस स्थिति को बयान करते हुए ज़हीर कहते हैं—

धीरे-धीरे वो कुशल नृत्यांगना बन गयी
वक़्त ने उस एक औरत को नचाया है बहुत[6]

कुल मिलाकर भारतीय नारी की त्रासदी की कहानी बहुत पुरानी है। प्राचीन तथा मध्यकालीन संतों ने उसे माया कहकर, ईश्वर साधना में बाधा कहकर, फटकारा है तो आधुनिक-काल में भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप आये भूचाल में तो उसका उपयोग आर्थिक लाभ के लिए किया जा रहा है। भूमण्डलीकरण की स्पर्धा में शामिल कई देश विदेशी क़र्ज़ों में डूब चुके हैं और इस क़र्ज़ को चुकता करने का प्रयास कृषि तथा उद्योग की कमाई से करने की कोशिश कर रहे हैं, किन्तु ये सम्भव नहीं हो पा रहा है। इसलिए शासन के स्तर से औरतों को इस असाध्य संकट से उबारने की कोई ठोस परियोजना नहीं है। परिणामस्वरूप विश्व स्तर पर इस प्रकार के व्यवसाय बढ़ रहे हैं, बल्कि सभ्य और पढ़े-लिखे समाज ने इन्हें एक नयी संज्ञा प्रदान की है—'सेक्स वर्कर'। इस काम में वो देश कुछ ज़ियादा ही आगे हैं जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है। ऐसे ग़रीब देश की स्त्रियों को एक यौन वस्तु के रूप में बेचा और ख़रीदा जा रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि बाज़ारवादी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए ही समकालीन दौर में नारी को एक वस्तु के रूप में परोसा जा रहा है। उसकी इस हालत को देखकर समाज के हर संवेदनशील तब्क़े को, रचनाकारों को चिन्ता हो रही है, लेकिन नारी की इस हालत पर बाज़ार ख़ुश है। ग़ज़लकार ज्ञानप्रकाश विवेक के शब्दों में—

औरत टाँगी गयी, शो-केस में रक्खी गयी
लोग थे ख़ामोश पर बाज़ार मुस्कराता रहा [7]

नारी-जीवन की सच्चाई ये है कि ये ईमानदार, निष्ठावान, कर्मठ, धैर्यवान और बलिदान करनेवाला ऐसा जीव है जिसका मुक़ाबला दुनिया का दूसरा प्राणी नहीं कर सकता। पुरुष-प्रधान व्यवस्था ने उसके इन्हीं गुणों का लाभ उठाकर उसका शोषण शुरू किया और शोषण की ये परम्परा सदियों से चली आ रही है। समकालीन हिन्दी-ग़ज़लकारों ने नारी-जीवन पर चर्चा करते हुए भारतीय नारी की तमाम त्रासदियों पर चर्चा की है। भारतीय समाज में परम्परा से ही नारी को देवी, परी, दासी कहकर उसका शोषण किया जाता था, किन्तु अन्तिम दशक के हिन्दी-ग़ज़लकारों को ये शोषण मंज़ूर नहीं है। इसलिए अन्तिम दशक के हिन्दी-ग़ज़लकार ये कहते हैं कि नारी को देवी, दासी और परी न समझकर उसे केवल स्त्री समझो और उसके बन्द होंठों के भीतर हो रही घुटन को समझो। ग़ज़लकार वशिष्ठ अनूप इस सन्दर्भ में कहते हैं—

बन्द होंठों की कभी बेबसी नहीं समझा
हमारी ज़िन्दगी को ज़िन्दगी नहीं समझा
कभी देवी, कभी परी, कभी दासी समझा
कभी किसी ने हमें आदमी नहीं समझा [8]

समकालीन माहौल में भारतीय स्त्री असुरक्षित है। पुरुष-प्रधान व्यवस्था में पुरुषों की दृष्टि से वो वासनापूर्ति का साधन मात्र है। इस कारण हमारे देश में दिन-दहाड़े स्त्री के साथ बलात्कार हो रहे हैं। पिछले साल दिल्ली में निर्भया के साथ किया गया बलात्कार, कुछ दिन पूर्व मुम्बई में 'शक्ति मिल' में एक महिला पत्रकार के साथ किया गया बलात्कार और हाल ही में उत्तरप्रदेश के बदायूँ में दो अल्पवयीन बहनों के साथ किये गये बलात्कार; ऐसी घटनाएँ भारतीय स्त्री की असुरक्षा को दर्शाती हैं। आज भी भारत के कुछ देहातों में किसी भी पारिवारिक रंजिश का बदला उस परिवार की महिला को निर्वस्त्र करके पूरे गाँव में नंगा घुमाकर लिया जाता है। इन घटनाओं को ग़ौर से देखने के बाद साफ़ होता है कि भारतीय स्त्री असुरक्षित है और ऐसी स्थिति में आवश्यकता है उसे अपनी रक्षा ख़ुद करने के लिए प्रेरित करने की। समकालीन हिन्दी ग़ज़लकारों ने भारतीय नारी को प्रेरणा देते हुए, उसे द्रौपदी के समान कमर कसकर पुरुष-प्रधान मानसिकता का विरोध करने की सलाह दी है। क्योंकि महाभारत में द्रौपदी को बचाने कृष्ण आये थे, किन्तु यहाँ आधुनिक-काल के कृष्ण से भी द्रौपदी को डर है। इसलिए उसे आत्मनिर्भर बनने की सलाह देते हुए ग़ज़लकार वशिष्ठ अनूप कहते हैं—

ज़रूरी है कि द्रौपदियाँ स्वयं बाँधें कमर, क्योंकि
दु:शासन छोड़ दे तो कृष्ण पट ले भाग जायेंगे [9]

इससे स्पष्ट होता है कि अन्तिम दशक के हिन्दी-ग़ज़ल साहित्य में भारतीय नारी-जीवन पर विस्तृत चिन्तन किया गया है और सदियों से पुरुष-प्रधान व्यवस्था द्वारा प्रताड़ित की गयी नारी की असहायता को वाणी दी है और नारी-मुक्ति का पक्ष-पोषण किया गया है। इसमें वे नारी-मुक्ति के अन्तर्गत न ही उसे वस्त्र-मुक्त करने को कहते हैं या न ही समता के नाम पर उसे एक पुरुष में तब्दील करने की माँग करते हैं, बल्कि नारी की अस्ली मुक्ति तो उसके नारी होने में ही है; इस बात का समर्थन करते हैं।

नारी-मुक्ति के लिए आवश्यकता है स्त्री को ताक़तवर बनना होगा। आर्थिक रूप से उन्हें स्वावलम्बी बनना होगा। राजनीति में उनकी पर्याप्त भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी। सेक्स, बाज़ार

तथा वेश्यावृत्ति पर पाबन्दी लगानी होगी। पोर्न-उद्योग पर नकेल कसनी होगी, बाज़ार के नुकीले नख-दन्त को समझना होगा और स्त्री-शक्ति में आस्था और विश्वास लाना होगा और इसी तथ्य को स्वीकृत करके समकालीन ग़ज़लकारों ने नारी-जीवन को चित्रित किया है इसमें सन्देह नहीं।

सन्दर्भ संकेत :

1. दीक्षित दनकौरी, डूबते वक़्त, पृ. 89
2. ज़हीर कुरैशी, समन्दर ब्याहने आया नहीं है, पृ. 25
3. अशोक अंजुम, मुस्कानें हैं ऊपर-ऊपर, पृ. 94
4. मधु कांकरिया, सलाम आख़िरी (भूमिका से)
5. वशिष्ठ अनूप, बंजारे नयन, पृ. 54
6. ज़हीर क़ुरैशी, समन्दर ब्याहने आया नहीं है, पृ. 42
7. ज्ञानप्रकाश विवेक, इस मुश्किल वक़्त में, पृ. 68
8. वशिष्ठ अनूप, बंजारे नयन, पृ. 12
9. वही, पृ. 5
10. कमलानन्द झा, वर्तमान साहित्य, मार्च- 2013, पृ. 23

मालिनी गौतम
574, मंगल ज्योत सोसायटी
संतरामपुर, महीसागर- 389260
गुजरात, मो.- 09427078711

डॉ. मालिनी गौतम, संतरामपुर गुजरात के 'आर्ट्स एवं कॉमर्स कॉलेज' में अँग्रेज़ी-विषय की एसोसिएट प्रोफेसर हैं। सुखद आश्चर्य का विषय है कि जहाँ ये अध्यापन अँग्रेज़ी-विषय का करती हैं, वहीं सृजन-कार्य हिन्दी-भाषा में कर रही हैं। 'दर्द का कारवाँ' नाम से एक ग़ज़ल-संग्रह तथा 'बूँद-बूँद अहसास' नाम से एक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

आज इण्टरनेट जहाँ एक तरफ़ साहित्य को जन-जन तक सुलभ बनाने का एक अभूतपूर्व ज़रीआ उपलब्ध कराता है, वहीं दूसरी तरफ़ इसके माध्यम से तमाम स्तरहीन सामग्री भी पाठकों, दर्शकों और श्रोताओं को भ्रमित करने के लिए सुलभ हो गयी है। इण्टरनेट पर अधिक-से-अधिक उपलब्ध रहना और इस पर फैल जाना भी रचनाधार्मिता का मानदण्ड समझा जाने लगा है। ऐसे में मालिनी गौतम का ये लेख शुभ-संकेत हैं कि इण्टरनेट पर उपलब्ध साहित्यिक सामग्री पर विचार, पुनर्विचार और समय-समय पर चर्चा-परिचर्चा आवश्यक है।

मालिनी गौतम

सोशल मीडिया में हिन्दी-ग़ज़ल

ग़ज़ल पहाड़ी झरने से निकलते उस बेरंग पानी की तरह है जिसमें जो भी रंग मिला दिया जाये वो उसी रंग को ग्रहण कर लेती है। यही कारण है कि आज हिन्दी-उर्दू के साथ-साथ न जाने कितनी ही भाषाओं में ग़ज़लें प्रचुरता से लिखी जा रही हैं।

मूलत: अरबी भाषा में जन्मी, फ़ारसी में पली-बढ़ी ग़ज़ल उर्दू में आकर एक बेहद लोकप्रिय विधा के रूप में प्रचलित होते हुए हिन्दी में आयी। अरबी और फ़ारसी के प्रचलित मिथकों, मुहाविरों और मिज़ाज ने उर्दू में अपना रंग कुछ इस तरह दिखाया कि हिन्दुस्तान की ज़मीन पर आने के बाद भी आज तक हिन्दी-ग़ज़लों पर उनका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सौन्दर्य, प्रेम, ख़ुश्बू, लावण्य, तारीफ़, शौर्य, ज़ुल्म, सितम जैसे कितने ही एहसासों के चित्रण के लिए आज भी अधिकांश हिन्दी-ग़ज़लकार अपनी भाषा को दरकिनार कर उर्दू की ओर मुँह ताकते नज़र आते हैं। यही कारण है कि पचास वर्ष का एक लम्बा समय बीत जाने के बाद भी हिन्दी-ग़ज़ल अपनी दशा और दिशा को लेकर दुविधा की स्थिति में खड़ी है। ये एक ऐतिहासिक सत्य है कि भले ही दुष्यन्तकुमार के पहले हिन्दी-ग़ज़ल की कितनी ही लम्बी परम्परा रही हो पर दुष्यन्तकुमार ही पहले ग़ज़लकार हैं जिनकी विराट सफलता से प्रभावित होकर हिन्दी में ग़ज़ल लिखने की होड़ मची और काव्य की एक स्वतन्त्र विधा के रूप में ग़ज़ल को स्थापित करने के अथक प्रयासों की एक लम्बी शृंखला प्रतिपादित हुई। आम बोलचाल की भाषा में बुनी हुई दुष्यन्तकुमार की ग़ज़लें भारतीय इतिहास के काले अध्याय आपातकाल की दहशत, त्रासदी, उत्पीड़न, व्यथा, दमन और तानाशाही रवैये के ख़िलाफ़ अपने प्रतिरोधी तेवर की वज्ह से जनमानस के मन में राह बना सकीं। दुष्यन्त कुमार ने हिन्दी-ग़ज़ल को एक अलहदा भाषा, संस्कार, मुहाविरा और मिज़ाज दिया। हिन्दी-ग़ज़ल की उत्पत्ति व विकास की यात्रा उर्दू-ग़ज़ल से सर्वथा भिन्न रही है; उर्दू-ग़ज़ल की तरह गाने-बजाने, प्रेम या मनोरंजन के लिए नहीं, बल्कि वर्तमान परिवेश में व्याप्त विसंगतियाँ, अराजकता, विद्रूपताएँ, अमानवीय व्यवहार के ख़िलाफ़ जनमानस में व्याप्त प्रतिरोध, नाराज़गी, असहमति, आक्रोश के तेवर हिन्दी-ग़ज़ल की राह निश्चित करते हैं। दुष्यन्त की अकूत लोकप्रियता के बाद उनसे प्रभावित होकर हिन्दी-ग़ज़ल में रातो-रात दुष्यन्त-सी ग़ज़लें कहनेवाले ग़ज़लकारों की भीड़ खड़ी हो गयी। उचित मार्गदर्शन के अभाव में ग़ज़लें शिल्प के स्तर पर, बह्र की कसौटी पर ख़ारिज की जाने लगीं। हिन्दी-ग़ज़ल के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौती थी कि चुस्त छन्द और लय को ध्यान में रखते हुए अपने समय के सामाजिक, राजनैतिक सच को उसकी सम्पूर्ण जटिलता के साथ व्यक्त करें। इतनी लम्बी यात्रा के बाद भी मूलत: ग़ज़ल के छन्दशास्त्र में कोई आमूल-चूल परिवर्तन नहीं दिखायी देता। उसका काव्यानुशासन आज भी उतना ही कठोर है कि अपने कथ्य को मज़बूती से प्रस्तुत करने के

प्रयास में ग़ज़लकारों ने जब भी ग़ज़ल की रूप-रचना में थोड़ी-बहुत छेड़खानी की, स्वतन्त्रता ली तो ग़ज़ल-समीक्षकों ने उनकी ग़ज़लों को बह्र से ख़ारिज मानकर दरकिनार कर दिया। हिन्दी-ग़ज़ल को ख़ारिज करने की इस मुहिम में हिन्दी के गद्य कवियों और आलोचकों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

हिन्दी-ग़ज़ल के सामने सबसे बड़ा और विकट प्रश्न भाषा और उर्दू शब्दों की रूमानियत के प्रभाव से बाहर निकलने का था। अपने भावों एवं विचारों को ग़ज़ल के एक शेर में पूरे दमख़म के साथ उतारने के लिए दुष्यन्त ने एक मिली-जुली भाषा का प्रयोग किया। हालाँकि हिन्दी-ग़ज़लों में शुरूआत में जो एक कच्चापन था वो धीरे-धीरे दूर होता चला गया। धीरे-धीरे भाषा को परिपक्वता भी मिली। अरबी-फ़ारसी, उर्दू-शब्दों के प्रति लगाव धीरे-धीरे कम हुआ और एक सहज भाषा का उपयोग शुरू हुआ, जिसमें उर्दू व अँग्रेज़ी के उन शब्दों को सहजता से बुना जाने लगा जो आम बोल-चाल में बहुधा प्रयुक्त होते थे और जिनके अर्थ ग़ज़ल के नीचे लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। ग़ज़लकारों का आग्रह अपनी भाषा के शब्दों और मुहाविरों के प्रति बढ़ा, एक सरल-सहज, सामान्य बोलचाल की भाषा हिन्दी-ग़ज़ल की भाषा बन गयी। विकास के पथ पर तेज़ी से गतिमान हिन्दी-ग़ज़ल, भाषा, संवेदना-अनुभूति, संरचना, अर्थ इत्यादि स्तरों पर हिन्दी-कविता के समक्ष खड़ी दिखायी देने लगी। मानव-जीवन के तमाम पहलू, अनुभव, सरोकार, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थितियों की झाँकी बेहद सघन रूप में दो मिस्रों के शेर में अभिव्यक्त होने लगी। समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल के सामने चुनौतियों का अम्बार है। सबसे बड़ी चुनौती तो ये है कि मुक्त-छन्द कविता के पक्षधर किसी भी हालत में हिन्दी-ग़ज़ल को आलोचना के क्षेत्र में स्थान नहीं देना चाहते। वर्तमान में हिन्दी की सभी महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में व समकालीन हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में मुक्त-छन्द कविता के पक्षधरों का एकछत्र साम्राज्य है। पत्र-पत्रिकाओं में ग़ज़लें छपें, यहाँ तक तो वे उदार हो सकते हैं, लेकिन उन पर आलोचनात्मक व विमर्शीय आलेखों को उसका स्थान देने से वे कतराते हैं। शिखर पर बैठे हुए ये आलोचक ग़ज़ल को हिन्दी-कविता की एक विधा मानने से इन्कार करते हैं, और अगर कभी भूले-भटके चर्चा करते भी हैं तो उनका लहजा और दृष्टिकोण नकारात्मक, अमानवीय और उपेक्षापूर्ण होता है। वे आज भी ग़ज़ल को वाहवाही पानेवाली एक लोकप्रिय विधा के रूप में ही देखते हैं और उनका स्पष्ट मत है कि सिर्फ़ मुक्त-छन्द कविता ही आम आदमी और समाज के यथार्थ, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, परिस्थितियों को उजागर करती है। समाज में व्याप्त भाषावाद, उपभोक्तावाद, नगरवाद, रूढ़ि, अन्धविश्वास, भ्रष्टाचार, शोषण, रिश्वत, व्यापारवाद, उत्पीड़न, अमीरी-ग़रीबी आदि समस्याओं तक पहुँचने में, उन्हें मुखर करने में समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल विफल सिद्ध हुई है। बक़ौल नामवर सिंह— ''ये भी एक विडम्बना ही है कि जब स्वयं उर्दू के संवेदनशील कवि हिन्दी के दोहा और गीत को उर्दू में लाने का यत्न कर रहे हैं, उस समय हिन्दी के गीतकार उर्दू का उच्छिष्ट ग्रहण करने की होड़ लगाये हुए हैं।''

वर्तमान की सभी तथाकथित नामी-गिरामी पत्रिकाएँ, जिन पर मुक्त-छन्द कविता के पक्षधरों का ही क़ब्ज़ा है, वे भी समकालीन हिन्दी-ग़ज़लों के प्रति नितान्त असाहित्यिक, उपेक्षापूर्ण और उदासीन नज़रिया रखती हैं। ये पत्रिकाएँ कभी-कभार ग़ज़ल पर इक्का-दुक्का आलेख प्रकाशित करके या फिलर के रूप में ग़ज़लों को स्थान देकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझती हैं। बहरहाल, इन्हीं सब विषम और पक्षपातपूर्ण परिस्थितियों के बीच बीसवीं शताब्दी के नब्बे के दशक में संचार क्रान्ति हुई। तकनीक एक लम्बी यात्रा पर निकल चुकी थी। सूचना एवं संचार में प्रथम क्रान्ति हुई छापाख़ाने के आविष्कार के साथ। जो केवल बोला और सुना जाता था, वो अब पढ़ा भी जाने लगा। पुस्तकें धीरे-धीरे घर-घर तक सुलभ होती चली गयीं। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक के साथ

ही नवपूँजीवादी ताक़तों का वर्चस्व पिछड़े और विकासशील देशों पर प्रभावी रूप से बढ़ता गया और उसके परिणामस्वरूप भारत में भी नवउदारवाद के साथ-साथ नवीन संचार तकनीक से सम्पन्न कम्प्यूटरों और इलेक्ट्रॉनिक्स के अन्य उपकरणों का आगमन हुआ। ये तकनीकी संसाधन शुरूआत में तो देश को आगे बढ़ाने में विज्ञान की नवीनतम भूमिका का सपना दिखाकर लाये गये थे, किन्तु इनमें समाज, कला, संस्कृति और विचारों से संवाद करने की एक तकनीकी वैचारिकी का भी समावेश था जिसके फलस्वरूप संचार क्रान्ति के क्षेत्र में मोबाइल, ई-मेल व अन्तरजाल(नेट) पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, ब्लॉग्स, फेसबुक, गूगल प्लस इत्यादि की शुरूआत हुई।

सोशल मीडिया के प्रवेश, मोबाइल व नेट की तकनीकी सुविधा ने मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को भी प्रभावित करना शुरू कर दिया और दुनिया जैसे हर किसी की मुट्ठी में आ गयी। तीव्र गति से वैचारिक आदान-प्रदान की सुविधा ने दूर-स्थित पारिवारिक सदस्यों और मित्रों को तो समीप लाने का प्रयास किया ही, अपरिचितों को भी परिचय के सूत्र में बाँधने में अहम भूमिका का निर्वहन किया। समाज के ताने-बाने में रिश्तों का एक संसार और जुड़ता चला गया। लोगों के विचार, भावनाएँ, समस्याएँ, समाधान सब कुछ साझा होने लगे। इस बीच राजनीति ने सोशल मीडिया का भरपूर दोहन किया तो वहीं साहित्य को भी सोशल मीडिया के रूप में एक अभिनव मंच मिला।

प्रिण्ट मीडिया के युग में भारतीय साहित्य वर्ग-विशेष के लोगों की झोली का सामान बन गया था, इस बौद्धिक एकाधिकार को सोशल मीडिया ने पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया, जिसका लाभ आम आदमी को मिला। सोशल मीडिया के कारण प्रिण्ट मीडिया की व्ययसाध्य दादागिरी समाप्त हुई तो साहित्य के नवांकुरों को पल्लवित-पुष्पित होने का भरपूर अवसर सहज ही उपलब्ध होता चला गया। इस बीच हिन्दी-ग़ज़ल को भी करवट बदलने का अवसर प्राप्त हुआ। सोशल मीडिया ने हिन्दी-ग़ज़ल को न केवल सुधी पाठक दिये अपितु उत्साहवर्धन के लिये प्रशंसक और टिप्पणीकार, परिमार्जन के लिए समीक्षक, संवर्धन के लिए स्रोत और ग़ज़ल-गोष्ठी के लिए एक वैश्विक मंच प्रदान किया। हिन्दी-ग़ज़ल का धुँधला क्षितिज तकनीक के सूर्य की लालिमा से दीप्त हो उठा। इण्टरनेट पर हिन्दी की वेब-पत्रिकाओं, हिन्दी ब्लॉग्स व फेसबुक, ट्विटर, गूगल प्लस, लिंक्डइन, ऑरकुट, माय स्पेस जैसी सोशल नेटवर्किंग साइट्स की शुरूआत हुई। फेसबुक व अन्य सोशल साइट्स के माध्यम से साहित्य समृद्ध हुआ। प्रिण्ट मीडिया की सभी महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं की पहुँच यूँ भले ही हज़ारों-लाखों पाठकों तक हो पर इन साइट्स के माध्यम से वे करोड़ों लोगों तक पहुँचने लगी हैं। कई पाठकों ने तो कितनी ही पत्रिकाओं का नाम तक नहीं सुना होता पर सोशल साइट्स के माध्यम से वे भी इनसे रूबरू हो रहे हैं। सभी प्रसिद्ध समाचार-पत्र इण्टरनेट पर सुलभ हैं। प्रिण्ट मीडिया की कुछ महत्त्वपूर्ण पत्रिकाएँ जो नेट पर भी उपलब्ध हैं उनमें प्रमुख हैं—हंस, मधुमती, साहित्य अमृत, आउटलुक, आधारशिला, कथाक्रम, कथाबिम्ब, पहल, परिकल्पना समय, लमही, वसुधा, वागर्थ, हरिगंधा, गर्भनाल, वीणा, अविराम साहित्यिकी इत्यादि। नेट पर उपलब्ध वेब-पत्रिकाओं में हालाँकि विशुद्ध रूप से ग़ज़ल से जुड़ी पत्रिकाएँ कम ही हैं, मगर फिर भी हिन्दी-ग़ज़ल के विकास में योगदान देने के लिए छन्द-प्रभा, अनुभूति, रचनाकार, समालोचना, जानकीपुल, आखर-कलश, अक्षर पर्व, अभिव्यक्ति, सृजन गाथा, हिन्द-युग्म, नव्या, परिकल्पना, वटवृक्ष, लेखनी, सृजन, साहित्य शिल्पी, गर्भनाल आदि वेब पत्रिकाओं के योगदान से इन्कार नहीं किया जा सकता। इन सभी ई-पत्रिकाओं का स्वरूप या कार्य-पद्धति लगभग प्रिण्ट मीडिया की पत्रिकाओं-सा ही है क्योंकि यहाँ भी पत्रिकाएँ किसी एक व्यक्ति-विशेष या समूह के द्वारा ही संचालित की जाती हैं।

चयन-प्रक्रिया से गुज़ारकर अच्छी रचनाओं को स्थान देने की प्राथमिकता और प्रतिबद्धता

होती है। सम्पादक का एक दृष्टिकोण व नज़रिया यहाँ भी दृष्टिगोचर होता है। चूँकि यहाँ पृष्ठ संख्या की कोई मर्यादा नहीं होती, अत: आगे-पीछे अच्छे रचनाकारों और रचनाओं को स्थान मिलता रहता है। इसी तरह ब्लॉग एक व्यक्ति की स्वयं की पत्रिका है जहाँ वो स्वयं की रचनाएँ अथवा अन्य रचनाकारों की रचनाएँ भी पोस्ट कर सकता है। ई-पत्रिकाओं की तरह इनकी कोई मासिक, द्वै-मासिक या त्रै-मासिक अवधि निश्चित नहीं होती है। ई-पत्रिकाओं और ब्लॉग्स की गम्भीरता फेसबुक की तुलना में अधिक दिखायी देती है। नेट पर रचनाएँ पढ़ने के बाद पाठकों के पास तुरन्त टिप्पणी करने का विकल्प उपलब्ध होने के कारण पाठक व लेखक के बीच एक सीधा संवाद स्थापित होता है। इस तरह एक तरल वातावरण निर्मित होता है। ऐसे कई रचनाकारों के हिन्दी ब्लॉग्स हैं जहाँ गम्भीर व सघन विचार-विमर्श दिखायी देता है। इस सुलभ व सहज विमर्श की सुविधा के कारण रचनाकार को सुधार एवं साहित्यिक परिमार्जन का तत्काल अवसर उपलब्ध हो जाता है। प्रिण्ट मीडिया में पाठक पत्रिकाएँ तो पढ़ लेते हैं, मगर कुछ ही पाठक इतने सक्रिय होते हैं जो रचनाओं पर अपनी प्रतिक्रियाएँ सीधे सम्पादक अथवा रचनाकार तक पहुँचाने की ज़ह्मत उठाते हैं। परिणामस्वरूप प्रिण्ट मीडिया के पाठक लिखित संवाद के अभाव में एकांगी होते हैं, जबकि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के पाठक टिप्पणी एवं संवाद की उपलब्धता के कारण रचनाकारों की सृजनशीलता का एक भाग बन जाया करते हैं। विभिन्न ब्लॉग्स पर रचनाओं के नीचे लिखी गयी टिप्पणियों से स्वत: ही इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि यहाँ पाठक भी अधिकतर ब्लॉगर हैं, अर्थात् उनका अपना भी स्वयं का ब्लॉग है और वो स्वयं भी एक रचनाकार की संवेदना व दृष्टि रखते हैं। यही कारण है कि ब्लॉग्स पर होनेवाली चर्चा और विमर्श में गम्भीरता व परिमार्जन का अवकाश अधिक नज़र आता है। इसके ठीक विपरीत फेसबुक पर 5000 तक की मित्र-संख्या निर्धारित होने के कारण 90 फ़ीसदी मित्र तो वे होते हैं जिनकी कोई साहित्यिक अभिरुचि होती ही नहीं है। सिर्फ़ मित्र-धर्म निभाने के लिए वे पोस्ट को 'लाइक' करते हैं या 'क्या ख़ूब', 'बहुत सुन्दर, 'उम्दा', 'क्या बात है', 'लाजवाब', बेह्तरीन' जैसे रटे-रटाये जुम्ले टिप्पणी के रूप में लिख देते हैं। इन 'लाइक्स' और 'कमेंट्स' के आधार पर अगर कोई रचनाकार अपनी रचना की गुणवत्ता का अन्दाज़ा लगाने का प्रयास करेगा तो वो निरी आत्ममुग्धता से अधिक कुछ भी नहीं होगी। फेसबुक अब ऐसा महासागर बन चुका है जहाँ मोती ढूँढने के लिए महारत चाहिए। अधिक-से-अधिक 'लाइक्स' और 'कमेंट्स' पाने के चक्कर में फेसबुक पर स्थिति अमूमन् यही है कि 'तू मेरी पीठ खुजा, मैं तेरी खुजा दूँगा', अर्थात् एक-दूसरे की तारीफ़ के लेन-देन पर ही यहाँ का 95 फ़ीसद कारोबार चलता है। ऐसे में कोई स्वयं को आत्ममुग्धता का शिकार होने से बचा सके, वही बड़ी बात है। विशेष रूप से महिला रचनाकारों की सामान्य पोस्ट पर भी 'लाइक्स' और 'कमेंट्स' की जो झड़ी दिखायी देती है, उससे रचनाओं की स्तरीयता व पाठक की गम्भीरता दोनों पर ही प्रश्नचिह्न खड़े होते हैं।

फेसबुक व ब्लॉग्स पर विद्यमान हिन्दी-ग़ज़लकारों में प्रिण्ट मीडिया के स्थापित ग़ज़लकारों से लेकर बिल्कुल नयी पीढ़ी के युवा ग़ज़लकार तक हज़ारों की संख्या में मौजूद हैं। आज जब हिन्दी-ग़ज़ल समकालीन युग में अपने पूरे तेवर, प्रासंगिकता, टटकेपन और मज़्बूती से न सिर्फ़ अपने समय के प्रश्नों से टकरा रही है, बल्कि दिनो-दिन इसका फ़लक इतना विस्तृत व वृहत्तर होता जा रहा है कि मुक्त-छन्द कविता के कई बड़े हिमायती इसके महत्त्व व बढ़ती लोकप्रियता को दबी ज़बान से ही सही, स्वीकारने के लिए मज्बूर हो गये हैं, ब्लॉग्स व फेसबुक पर लिखी जा रहीं ग़ज़लें भी पाठक को सिर्फ़ आनन्दित नहीं करतीं, बल्कि उसके मन को बेचैन और विचलित करती हैं। ये ग़ज़लें शोषित, उत्पीड़ित भारतीय जनता के दु:ख-दर्द को वाचा देती हैं, अमीरी-ग़रीबी के फ़र्क़, सम्प्रदायवाद, उपभोक्तावाद, भाषावाद, महानगरवाद और नगरवाद, अन्धविश्वास, रूढ़ियाँ, उद्योगवाद,

व्यापारवाद, धार्मिक कट्टरता, सम्प्रदायवाद, रिश्वत, सरकारी शोषण, भ्रष्टाचार को खुलेआम बेनक़ाब करती हैं। साथ ही आम आदमी की लाचारियाँ, घुटन, अजनबीपन, महानगरीय त्रासदी, असन्तोष, आक्रोश, अपनों की अपनों से जद्दोजहद व तथाकथित उजालों के पीछे के सच भी इनमें दृष्टिगोचर होते हैं।

कोई पक्का इरादा क्यों नहीं है
तुझे ख़ुद पर भरोसा क्यों नहीं है
बहुत सन्तुष्ट है हालात से क्यों
तेरे भीतर भी ग़ुस्सा क्यों नहीं है

कमलेश भट्ट 'कमल'

इन उजालों का नाम होता है
जिस्म तो तीलियों के जलते हैं

अनिरुद्ध सिन्हा

उपरोक्त शेर सधी हुई भाषा में दूर तक मार करते हैं। यहाँ शब्दों से खेलने का, चमत्कार उत्पन्न करने का अथवा विशेष कला-कौशल साधनों का प्रयास होता नहीं दिखायी देता, बल्कि एक सन्तुलित तरीक़े से अपने समय के सच को कहा गया है।

हिन्दी-ग़ज़ल में मिट्टी की ख़ुश्बू और पसीने की महक है। उद्योगीकरण, बाज़ारवाद, व्यापारवाद आदि के अन्धाधुन्ध पाँव पसारने के बाद भी भारत आज भी गाँवों में बसता है। आज भी भारत की जनसंख्या का एक बड़ा प्रतिशत कृषि से जुड़ा हुआ है व साथ ही कृषि-क्षेत्र से जुड़े हुए विभिन्न उत्पादों एवं लघु रोज़गारों पर निर्भर करता है, मगर भूमण्डलीकरण और बाज़ारवाद के इस दौर में जहाँ सारे नियम-क़ानून ताक़ पर रख दिये गये हैं, हर व्यक्ति एक व्यक्ति नहीं, बल्कि एक 'कमोडिटी' के रूप में देखा जाता है। बाज़ारवाद की इस दौड़ में किसान, मध्यमवर्गीय व सर्वहारा वर्ग नित नयी परेशानियों से जूझता हुआ नज़र आता है। अपनी अदम्य लालसा और जिजीविषा के बलबूते पर हर सम्भव कोशिश करके दिन ढले ज़िन्दगी के दोनों सिरों को जोड़ने का प्रयास करता नज़र आता है और इस प्रयास में हर पल न जाने कितनी ही सम-विषम परिस्थितियों का सामना करता है। रोज़ी-रोटी की तलाश में विस्थापन का दर्द झेलता है। आज जब बाज़ारवाद हमारे घर-आँगन तक प्रवेश कर चुका है, एक सामान्य व्यक्ति नींद में भी अपने सपनों की तलाश करता नज़र आता है—

जहाँ मन हो बिछा लेते हैं, बिस्तर लेके चलते हैं
तो घर-परिवार, बर्तन, नून-शक्कर लेके चलते हैं

ओमप्रकाश यती

व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के चलते, विभिन्न सामाजिक-राजनैतिक कारणों के चलते एक बड़ा वर्ग गाँवों से शह्‌रों की ओर भाग रहा है। शह्‌र में आकर रात-दिन मरते-खटते, पाँव रखने की ज़मीन भले ही नसीब हो जाये या सफलता के कितने ही पायदान आदमी चढ़ ले, परन्तु ताउम्र गाँव छोड़ने का दंश तो खाता ही रहता है। आदमी का घर-गाँव उसकी रग-रग में समाया रहता है—

शह्‌र में चर्चे हैं तेरे रौब-रुतबे के मगर
तेरे बचपन की कहानी है अभी तक गाँव में

द्विजेन्द्र द्विज

छल-प्रपंच से भरी हुई आज की राजनीति में धर्म और सेक्युलरिज़्म के नाम पर जनता की भावनाओं के साथ क्रूर मज़ाक़ और खिलवाड़ किया जा रहा है। अपना वोट बैंक मज़्बूत करने के लिए

राजनेताओं के द्वारा मासूम लोगों के मन में धार्मिक कट्टरता का ज़ह्र घोला जा रहा है। विकास के नाम पर किये गये वादे-प्रलोभन चन्द काग़ज़ के टुकड़ों से शुरू होकर वहीं ख़त्म हो जाते हैं। अमीर और अमीर होता जा रहा है व ग़रीब असहाय-सा अपने कटे हुए हाथ-पैर व जेब-विहीन शर्ट-पतलून ताकता नज़र आता है—

रस्म ये कैसी निभायी जा रहे हैं काग़ज़ी चिड़िया उड़ायी जा रही है

अशोक आलोक

विकास, प्रगति, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद के नाम पर जो घृणित और कुत्सित खेल खेले जा रहे हैं, सियासी दाँव-पेच और चालें चलीं जा रही हैं, उनके विरोध में अपना मुखर आक्रोश दर्ज कराती ग़ज़लों की फेसबुक व ब्लॉग्स पर उपस्थिति सुखद है—

उनके ही हाथों से देखो बिक रहा हिन्दोस्ताँ
है पहन रक्खा जिन्होंने तन पे खद्दर, ग़ौर कर

गौतम राजरिशी

ब्लॉग्स व फेसबुक के माध्यम से अपना स्वर मुखरित करनेवाले ये ग़ज़लकार अपनी ग़ज़लों के माध्यम से अपने समय के साथ बार-बार टकराते हैं, प्रवृत्त विचारधाराओं के प्रति अपनी सहमति-असहमति दर्ज कराते हुए पक्ष या विपक्ष में स्वयं को खड़ा करते हैं, समाज की जटिलताओं को समझकर उनका विश्लेषण करने की क़ुव्वत रखते हैं। अपनी-अपनी ज़मीन पर खड़े ये ग़ज़लकार अपने-अपने अनुभवों, भाषा, शिल्प, बिम्ब-विधान व कथ्य-भंगिमा के माध्यम से मुफ़्लिसी, बेरोज़गारी, महँगाई, शोषण, दमन, उत्पीड़न के विरोध में एक नयी ज़मीन रचते नज़र आते हैं। इनकी ग़ज़लों में एक संवेदनशील आम आदमी की तक्लीफ़, कश्मकश, कई अमानवीय घटनाएँ तथा अपने समय में घट रही परिवर्तनकारी घटनाओं की गूँज-अनुगूँज साफ़-साफ़ सुनायी देती है।

फेसबुक व ब्लॉग्स पर उपस्थित इन ग़ज़लकारों के इस उजले पक्ष को देखकर निश्चिन्त या आश्वस्त हो जाने की क़तई आवश्यकता नहीं है। फेसबुक पर इन दिनों ग़ज़लकारों की बाढ़-सी आई हुई है। इस बाढ़ में सीप-मोती के साथ-साथ कूड़ा-कचरा भी शामिल है। सिर्फ़ क़ाफ़िया भर मिला लेने को ग़ज़ल कहनेवाले अनगढ़ ग़ज़लकारों की भीड़ है। फेसबुक पर चोरी और उठान्तरी की घटनाएँ भी आम हैं। पुरानी पत्र-पत्रिकाओं में से ग़ज़लों को उठाकर अपने नाम से प्रस्तुत करनेवाले रचनाकार भी ढेरों हैं। ऐसे में रचनाओं की विश्वसनीयता पर प्रश्न-चिह्न लगता है। यहाँ आज भी हीर-राँझा, लैला-मजनूँ के इश्क़ को बयाँ करती, प्रेमिका के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन करती, विरह, मिलन, ज़ुल्मो-सितम, बेवफ़ाई, शिकवे-शिकायत इत्यादि भावों से लदी हुई ग़ज़लों की भरमार है। ऐसे ग़ज़लकारों की भी भरमार है जो सिर्फ़ देवनागरी लिपि में लिखकर उर्दू-फ़ारसी शब्दों से भरपूर अपनी ग़ज़लों को हिन्दी-ग़ज़ल के नाम पर पाठकों को परोस रहे हैं, क्योंकि फेसबुक पर हिन्दी-पाठकों का वर्ग बहुत बड़ा है। कमोबेश हर तरफ बाढ़ का पानी चढ़ा हुआ है और ये हरहराता वेग समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल को क्या दिशा देगा ये कह पाना मुश्किल है।

फेसबुक पर प्रिण्ट मीडिया व कवि-मंचों के सभी नामी-गिरामी, प्रतिष्ठित व स्थापित ग़ज़लकार मौजूद हैं। इस माध्यम के द्वारा हिन्दी-ग़ज़ल का कुछ भला करने की उम्मीद अगर किसी से की जा सकती है तो वे हैं ये स्थापित ग़ज़लकार। हिन्दी-ग़ज़ल को आगे ले जाने का मोर्चा सँभाले हुए इन सभी रचनाकारों को अब फेसबुक पर भी अपनी ही ग़ज़लें पोस्ट करके वाह-वाही लूटने के मोह से बाहर आना चाहिए। कुछ मंचीय ग़ज़लकार जिन्होंने प्रिण्ट मीडिया में भी बहुत अच्छा कार्य किया है, वे भी यहाँ अपने ही कवि-सम्मेलनों के वीडियो और फोटो डाउनलोड करके आत्ममुग्धता का शिकार हो रहे हैं। हिन्दी-ग़ज़ल के प्रति अपनी चिन्ता, लगन और प्रतिबद्धता का परिचय देते हुए इन मँजे हुए ग़ज़लकारों को अब अपनी वॉल पर हिन्दी-ग़ज़ल के भाषा, शिल्प,

कथ्य, बिम्ब, मुहावरे, मिज़ाज और हिन्दी–ग़ज़ल की राह में खड़ी चुनौतियों पर बात करनी चाहिए ताकि नयी पीढ़ी के कच्चे व अनगढ़ ग़ज़लकारों को एक सही दिशा मिल सके। प्रिण्ट मीडिया में 'ग़ज़ल के बहाने' पत्रिका के माध्यम से हिन्दी–ग़ज़ल की सेवा करने के लिए कटिबद्ध ग़ज़लगो श्री दरवेश भारती फेसबुक पर भी इसी कार्य को बड़ी शिद्दत से निभा रहे हैं। यहाँ भी वे अपनी वॉल पर नवोदित ग़ज़लकारों के द्वारा पोस्ट की गयी ग़ज़लों को पढ़कर विचार–विमर्श करते हैं। कमियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए अरूज़ के नियमों की जानकारी देते हैं व ग़ज़लकारों को कुछ नया सीखने को प्रेरित करते हैं। भारती जी द्वारा प्रस्तुत ये उदाहरण सभी नामी ग़ज़लकारों के लिए अनुकरणीय है।

फेसबुक व ब्लॉग्स के माध्यम से कई प्रवासी ग़ज़लकार भी हिन्दी–ग़ज़ल की यात्रा में अपना योगदान दे रहे हैं, जिनमें प्राण शर्मा, महावीर शर्मा, पूर्णिमा वर्मन, तेजेन्द्र शर्मा, श्रद्धा जैन, चाँद हदियाबादी इत्यादि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त, ध्रुव गुप्त, अनिरुद्ध सिन्हा, नरहरि अमरोवही, हरेराम समीप, ओमप्रकाश यती, अशोक आलोक, डी. एम. मिश्रा, विमलेन्दु सागर, दिनेश कुमार, उदय प्रताप सिंह, सीता सागर, नीतिश जोषी, सुशील साहिल, सिया सचदेव, चाँदनी पाण्डे, इन्दिरा शबनम 'इन्दु', प्राची राज, सन्ध्या सिंह, कमलेश भट्ट 'कमल', अंकित जोषी, संजय कुमार कुदन, गौतम राजरिशी, श्याम सखा 'श्याम', शार्दूल राठौड़, डॉ. कविता किरण, देव निरंजन, केशव पाठक सृजन, रमेश राज, मिथिलेश गहमरी, अशोक अवस्थी, अमित हर्ष, शिव, संजय कुमार शर्मा, डॉ. राम शिरोमणि पाठक 'दीप', डॉ. नीलम, डॉ. दीपक गुप्ता, सत्यपाल ख़याल, संजय कुमार शर्मा 'राज़', महेश कटारे शुभम, दीक्षित दनकौरी, निर्मल नदीम, पाण्डेय शैलेन्द्र, मीनाक्षी पन्त, पल्लवी त्रिवेदी, संजीव आर्य, दीप शर्मा, अनुराधा जसरौटिया, किशोर सोनी कौशल, अंसार कम्बरी, पुष्पेन्द्र यादव, अशोक अंजुम, डॉ. सरिता शर्मा, नीरज शर्मा, देवेन्द्र आर्य, वशिष्ठ अनूप, राम अवतार बरैना, मलिन्द्र कुमार, तनु थदानी, जितेन्द्र कुमार सोनी, सुरेन्द्र सिंह भाटिया, ज्ञानप्रकाश विवेक, तरुण, राजेश रेड्डी, वात्स्यायन, पंकज कुमार मिश्र, ब्रजेन्द्र शर्मा, सुरेन्द्र कुमार सैनी, प्रदीपकान्त, शशांक गर्ग, दिनेश त्रिपाठी, प्रखर मालवीय कान्हा, वीनस केसरी, द्विजेन्द्र द्विज, बकुल देव, रविप्रताप सिंह, पवन कुमार, सोनरूपा विशाल, आर.डी.एन. श्रीवास्तव, विकास शर्मा, केतन कमाल, सतीश शुक्ला 'रक़ीब', ऋषि अग्रवाल, नितिन मनेरिया, संजय तिवारी, राजेन्द्र स्वर्णकार, सौरभ शेखर, मयंक अवस्थी, तुफ़ैल चतुर्वेदी, अजय अज्ञात, नूर मुहम्मद 'नूर', सुरेन्द्र चतुर्वेदी, अशोक रावत, नवीन चतुर्वेदी, अरुण मिश्र, बी.आर. विप्लवी, रॉक शायर इत्यादि अपनी क़लम के ज़ोर से समकालीन हिन्दी–ग़ज़ल को एक नयी दिशा देने के लिए प्रयासरत हैं। ब्लॉग्स व फेसबुक पर उपस्थित ग़ज़लकारों की ये सूची पूरी है, ऐसा क़तई नहीं कहा जा सकता। ग़ज़ल को शौक़ और शग़ल समझनेवाले या ग़ज़ल को साधना समझनेवाले सभी तरह के ग़ज़लकार यहाँ मौजूद हैं। ग़ज़लकारों की इस सूची में अपने अनोखे अन्दाज़, तेवर और कहन से कौन–कौन अपना नाम साहित्य के पन्नों में दर्ज करा सकेगा या कौन गुमनामी के अँधेरे में खो जायेगा, इसका निर्णय तो आनेवाला समय ही करेगा।

मुसाफ़ इक़्बाल तौसीफ़ी

'ग़ज़ल के रंग' का तन्क़ीदी जायज़ा

अकरम नक़्क़ाश और सुहैल अख़्तर ने पन्द्रह शायरों का मुंतख़ब कलाम 'ग़ज़ल के रंग' के नाम से किया है। इब्तिदाई पन्नों पर 'सराहत' के उन्वान के तहत जिन बातों की सराहत (व्याख्या-आख्या या स्पष्टीकरण) की गयी है, उनके बारे में भी सोचता रहा हूँ और मेरा अपना नुक़्तए-नज़र भी है। फिर कुछ और बातें भी हैं जहाँ इख़्तिलाफ़ (मतभेद) की गुंजाइश है। इस तह्रीर का पहला जुम्ला है— 'ग़ज़ल के रंग' नये ग़ज़लगो शोअरा के कलाम का इंतख़ाब है। नये शोअरा से मुराद वो शोअरा जिनका शेरी सफ़र सन् ८० के बाद शुरू होता है, जिन्हें ८० के बाद की नस्ल कहा जाता है। इस मज्मूए में जिन शोअरा का कलाम शामिल है उन्हें बजा तौर पर ८० की नस्ल के नुमाइन्दा शायर कहा जा सकता है, लेकिन मुझे इस किताब को नये ग़ज़लगो शोअरा के कलाम का इंतख़ाब कहने में ज़रा सन्देह है। बादियुन्नज़र(प्रथम दृष्टया) में ये किसी एक शायर के मुंतख़ब कलाम ही की तरह (जैसे शाज़ तमकनत का 'वरक़े इन्तख़ाब') ये किताब कई शायरों की इज्तिमाई (सामूहिक) पेशकश लगती है, क्योंकि ८० के बाद की नस्ल के शोअरा के कलाम का इंतख़ाब, जो एक अहद का इंतख़ाब होगा। उसमें हम 15 से कहीं ज़ियादा शोअरा के शामिल होने की उम्मीद करेंगे। आगे जो ये लिखा गया है कि— ''जो लोग ज़ियादा सर्कुलेशन में रहे और कुछ गिरोहबन्दियों का शिकार भी हैं......'' वग़ैरह गोया उन्हें भी नज़रअन्दाज़ किया गया है। मेरी समझ में नहीं आता आख़िर सर्कुलेशन में रहने में क्या बुराई है; हाँ गिरोहबन्दी के मैं भी ख़िलाफ़ हूँ, लेकिन उन गिरोहों में भी अगर कुछ अच्छे शायर हैं और हम उन्हें महज़ किसी गिरोह से वाबस्तगी के आधार पर नजरअन्दाज़ कर रहे हैं तो क्या हम अपना एक अलग गिरोह या फिर डिफरेण्ट नहीं बना रहे हैं? मेरे ख़याल में ये एक अच्छे अदीब, शायर को व्यक्ति-विशेष की कोताहियों को नज़रअन्दाज़ करते हुए सामाजिक बुराइयों को निशाना बनाना चाहिए।

इन गुज़ारिशात के बावजूद जब मैंने ये किताब पढ़ी तो मुझे इस मज्मूए में शामिल ग़ज़लें पढ़ते हुए ज़ेह्नो-दिल की कुशादगी का एहसास हुआ, क्योंकि इस मज्मूए में शामिल शायरी ऐसी है जो हमारे जज़्बात को झिंझोड़ती है। ८० के बाद की ग़ज़ल में जो रुज्हानात, मौज़ूआत और तख़्लीक़ी इज़्हारात हैं, ये मज्मूआ उनकी ख़ातिरख़्वाह नुमाइन्दगी करता है और ये मज्मूआ अपनी संख्या के ऐतबार से ८० की नस्ल की शायरी का भरपूर इज़्हार नहीं तो कैफ़ियत के ऐतबार से ८० के बाद की शायरी का स्पष्ट संकेत बहरहाल है और अब मैं अपने ख़यालात में थोड़ी-सी लचक पैदा करके इसे ८० के बाद की शायरी का इंतख़ाब तस्लीम करता हूँ।

इस इंतख़ाब को पढ़ते हुए (अब मैं लफ़्ज़ 'इंतख़ाब' इस्तेमाल कर रहा हूँ) मुझे जो ख़ुशी हुई उसकी एक वज्ह ये है कि मेरे ख़याल में किसी अहद का इंतखाब हमें उस अहद के सच्चे इन्फ़िरादी जज़्बात से सम्बन्धित बाह्य या आन्तरिक ज़िन्दगी के तज्रबात की रंगारंग तख़्लीक़ी सूरत

का नज़ारा कराता है। इस शर्त के साथ कि मुरत्तब या मुरत्तबीन(संकलन करनेवाले) उस दौर में शाए होनेवाले सारे या बेशतर मज्मूओं और अदबी रिसाएल का बारीकी के साथ ख़ुद मुताला करें और इंतख़ाब करें। दूसरी शर्त ये है कि वो साहिबे-ज़ौक़ हों, दियानतदार हों और उनमें ख़ुलूस और लगन हो। इस किताब के मुरत्तबीन ने अगर मेरी पहली शर्त पूरी नहीं की तब भी दूसरी शर्त ज़रूर पूरी की है और इस समय अगर ये एक नायाब गुण नहीं तो कमयाब गुण ज़रूर है। उन्होंने तरीक़ा ये इस्तेमाल किया कि अपने मुतालआत की बुनियाद पर पहले नामों का इंतख़ाब किया फिर ग़ालिबन् उन शोअरा ही से उनकी बेह्तरीन ग़ज़लें तलब की। ये प्रोसेस भी हमें क़ाबिले-क़ुबूल होना चाहिए कि अपनी शायरी का सबसे अच्छा नक़्क़ाद शायर ख़ुद होता है। मेरी राय में बेह्तर तो ये होता कि इन्फ़िरादी तौर पर तख़्लीक़ात को पहले identify किया जाता और नामों की अहमियत द्वितीयक होती है। इसके बावजूद इस मज्मूए में शामिल ग़ज़लों की ख़ूबियों के पेशे-नज़र इस इंतखाब की अहमियत बरक़रार रहती है। मुझे इस बात की भी ख़ुशी है कि ये इंतख़ाब ग़ज़लों पर आधारित है, क्योंकि आजकल ये ख़याल आम है कि तख़्लीक़ी इज़्हार के लिए नज़्म ग़ज़ल से ज़ियादा इज़्हार की ताक़त रखती है, हालाँकि ये दोनों इज़्हारात एक-दूसरे की कमी पूरी करते हैं।

इंतख़ाबात की बात छेड़ी तो 'ग़ज़ल के रंग' से बहुत पहले उर्दू-नज़्म और ग़ज़ल के कई अहम इंतख़ाबात जो मुझे हासिल रहे हैं उनका ज़िक्र करना चाहूँगा, जैसे— शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी और हामिद हुसैन 'हामिद' का 'नये नाम' (1967) (फ़ज़ील जाफ़री इसे तारीख़ी अहमियतवाली एंथालॉजी कहते हैं), ख़लीलुर्रहमान आज़मी का 'नयी नज़्म का सफ़र', त्रैमासिक 'सौग़ात' बंगलोर का जदीद नज़्म नम्बर, शाहिद माहिली द्वारा संकलित-सम्पादित 'नयी नज़्म नये दस्तख़त' और हाल ही में Great Urdu Nazms by Kuldip Salil जिसमें कुलदीप सलिल ने मुन्तख़ब उर्दू-नज़्मों के अँग्रेज़ी तर्जुमे के अलावा उन्हें उर्दू और देवनागरी लिपि(script) में भी शाए किया है और मुज़फ़्फ़र हन्फ़ी की 'रूहे-ग़ज़ल'। इनके अलावा औसाफ़ अहमद द्वारा सम्पादित 'बीसवीं सदी की बेह्तरीन उर्दू शायरी', प्रकाश पण्डित की पाकेट बुक सीरीज के तहत 'मुशायरा', 'उर्दू की बेह्तरीन शायरी' और 'पाकिस्तान की बेह्तरीन शायरी' जो बेहद मक़्बूल हुई। ये सारे इंतख़ाबात 'नये नाम', 'नयी नज़्म का सफ़र' या 'नये क्लासिक' की तरह उस मर्तबे के नहीं, लेकिन जिस मक़्सद के तहत ये शाए किये गये कि कुछ अच्छी उर्दू-शायरी अवाम तक पहुँच सके, उस मक़्सद में कामयाब हैं। इंतख़ाब की क़द्रो-क़ीमत और अहमियत ये है कि जिस period की नुमाइन्दगी करते हैं, उनमें शामिल तख़्लीक़ात की मदद से उस अहद की शायरी की सिम्तो-रफ़्तार का अन्दाज़ा होता है। यही बात 'ग़ज़ल के रंग' के बारे में भी कही जा सकती है, लेकिन इस अतिरिक्त के साथ कि 'रूहे-ग़ज़ल' ही की तरह ये इंतख़ाब ग़ज़लों पर आधारित है, जबकि ऊपर जिन इंतख़ाबात का ज़िक्र किया गया उनमें से बेशतर जैसा कि उनके नामों से ज़ाहिर है सिर्फ़ नज़्मों का इंतख़ाब है। इन सब में विशिष्ट है— शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी और हामिद हुसैन 'हामिद' के 'नये नाम'(जिसमें ग़ज़लें भी हैं), 'नये क्लासिक' (जिसमें नज़्मो-ग़ज़ल के साथ-साथ चन्द कहानियाँ भी हैं) और फिर प्रकाश पण्डित और कुलदीप सलिल की किताबें जिनमें नज़्मो-ग़ज़ल दोनों विधाओं पर तवज्जो दी गयी है। इस ऐतबार से देखा जाय तो 'ग़ज़ल के रंग' की अहमियत और बढ़ जाती है कि इसने भी ग़ज़ल-विधा पर फोकस किया और इस मुख़्तसर, लेकिन मेआरी फ़ेहरिस्त में अपनी जगह बनाने के लिए प्रयासरत है।

आज के सीनियर शायर, अदीब जिनमें से बेशतर का ताल्लुक़ 60 के बाद उभरनेवाली पीढ़ी से है, उन्हें ये इंतख़ाब 'ग़ज़ल के रंग' का अध्ययन ज़रूर करना चाहिए, क्योंकि वो इस ग़लतफ़हमी का शिकार हैं कि उन्होंने या उनके समकालीन अदीबों ने जो लिख दिया वही हर्फ़े-आख़िर है, जबकि अच्छी-बुरी शायरी हर दौर में होती रही है और उन्हीं के पेशरौ(पूर्ववर्ती) जिनमें

तरक़्क़ीपसन्दों के अलावा 'हल्क़ा-ए-अरबाबे-ज़ौक़' के शायर भी हैं, वो अपने बाद उभरनेवाले शायरों की हिम्मत-अफ़ज़ाई करते रहे। तरक़्क़ीपसन्दों और हल्क़े के अदीबों में अगर मतभेद थे तो ज़ियादातर नज़रयाती थे। इसके सबसे रौशन मिसाल वो सालाना इंतख़ाब हैं जो मीराजी ने हलक़े के ज़ेरे-एहतमाम शाए किये और उनकी किताब 'इस नज़्म में', जिसमें उन्होंने अपने ऐसे मुख़ालिफ़ीन, जो उन्हें रजूअत-पसन्द, जिंसज़दा और न जाने क्या-क्या कहते थे, उनकी नज़्में शामिल की और 'जोश' से लेकर उस वक़्त के चन्द निहायत ग़ैरमारूफ़(अपरिचित) शायरों की ऐसी नज़्मों का निहायत ख़ूबसूरत तज्ज़िया किया जो अपने हुस्नो-ख़ूबी के कारण उस तवज्जो की हक़दार थीं। हमें मीराजी के अदबी किरदार की इस ख़ूबी को अपनाना चाहिए। मैं चाहूँगा कि हमारे नौजवान संकलनकर्ता-चयनकर्ता भी इसी पद्धति को अपनायें।

एक बात और, वो ये कि हमारी ज़बान में ये ख़याल आम है कि अँग्रेज़ी अदब और तह्रीकों से वाक़िफ़ होने से पहले उर्दू में तन्क़ीद का कोई वजूद ही नहीं था। 'तह्रीके-अंजुमने-पंजाब' ने इस ख़याल को हवा दी, जिसके नतीजे में नज़्म की तन्क़ीद और तह्सीन पर ही ज़ियादा काम हुआ और ग़ज़ल से बेरुख़ी बरती गयी। समकालीन परिदृश्य में भी हमारे आलोचकों ने दौरे-हाज़िर की ग़ज़ल को कम-कम ही विषय बनाया है। त्रैमासिक 'औराक़' लाहौर में वज़ीर आग़ा और 'सौग़ात' में महमूद अयाज़ ने ये सिल्सिला शुरू किया कि मुख़्तलिफ़ शोअरा की नज़्में प्रख्यात् आलोचकों को, शायरों का नाम गुप्त रखकर समीक्षा के लिए भेजी जायें, ताकि पता चले कि कौन कितने पानी में है, लेकिन ग़ज़ल को ये मर्तबा नहीं दिया गया। पिछले चन्द दहों(दशकों) की तन्क़ीद में भी समकालीन ग़ज़ल को वो अहमियत नहीं बख़्शी गयी जिसकी वो हक़दार है, बल्कि शायद ज़ियादा हक़दार, क्योंकि वो उस शेरी रवायत और सदियों की पोषित-संरक्षित तह्ज़ीब से मालामाल, जो हमारी अदबी विरासत है। मुहम्मद हसन अस्करी ने सही लिखा है कि– ''उर्दू में तन्क़ीद की कमी का शिकवा करनेवाले लोग वो हैं ''(जो) ग़ज़ल के कल्चर से तअस्सुब(स्वार्थपरता) का सबूत देते हैं, बल्कि अदब की नफ़्सियात(Psychology) और इंसान के दिमाग़ से नावाक़िफ़ीयत का भी। कोई शेर सुनकर अगर किसी आदमी के मन से बेसाख़्ता वाह निकल जाती है तो ये क्रिया बज़ाते-ख़ुद इस बात की दलील है कि उसके अन्दर तन्क़ीदी शऊर(आलोचकीय दृष्टि) है, चाहे वो नाकिस और ग़ैरतर्बियतयाफ़्ता ही क्यों न हो? ग़ज़ल के दौर में भी हमारे यहाँ बड़ा मुहज़्ज़ब और निखरा हुआ, अदबी ज़ौक़ और तन्क़ीदी शऊर मौजूद था। कमी हमारे यहाँ ये रही है कि मग़्रिब की तरह इस शऊर को बौद्धिकता में ढालने और सिद्धान्तों की शक्ल देने की कोशिश नहीं की गयी।'' ('हिन्दुस्तानी अदब की परख'– मुहम्मद हसन अस्करी)। मेरी नाचीज़ राय में इस शऊर को (ग़ज़ल की तन्क़ीद पर बतौरे-ख़ास) मज़ीद तक़्वियत देने की ज़रूरत है। अगर इस इंतख़ाब 'गजल के रंग' का कैनवस कुछ और वसीअ होता और इसमें चन्द आलोचनात्मक लेख भी शामिल होते या कम-से-कम हर शायर के मुंतख़ब कलाम से पहले कुछ आलोचकीय टिप्पणी शामिल होती, जिनसे इन ग़ज़लों की ख़ूबियों की निशानदेही हो सकती तो बेह्तर होता।

ग़ज़ल की शायरी अपने अन्दर निहायत वसीअ इम्कानात(व्यापक सम्भावनाएँ) रखती है। एक अच्छे शेर के दो मिस्रों में लफ़्ज़ों के पीछे मआनी(अर्थ) क़तार-दर-क़तार खड़े रहते हैं। लफ़्ज़ों में ही नहीं, बल्कि लफ़्ज़ों के दरमियान वक़्फ़ों(अन्तरालों) या Pauses में भी अहले-नज़र के लिए मानी की मुख़्तलिफ़ शक्लें उभरती हैं, जिसकी सबसे अच्छी मिसाल मोमिन और ग़ालिब की शायरी है, जिसमें हमें इस तर्ज के कई अश्आर मिलते हैं। ग़ज़ल हर दौर में मक़्बूल रही है, लेकिन ग़ज़ल और ख़ास तौर पर दौरे-जदीद की ग़ज़ल पर तन्क़ीदी तह्रीरों की कमी का सबब मेरे ख़याल में ये हो सकता है कि ये काम क़ाबिले-क़द्र तो है, लेकिन साथ ही निहायत सब्रआज़्मा भी। 'ग़ज़ल के रंग' के बारे में मेरी राय है कि ये किताब ऐसे नक़्क़ादों को भेजी जाय जो हमारे

क्लासिकी सरमाये के साथ-साथ इस संकटपूर्ण दौर के समकालीन मुद्दों से भी आगाह हों। उनसे दरख़्वास्त की जाय कि वो इस इंतख़ाब में शामिल शायरों की ग़ज़लों पर एकल या सामूहिक रूप से इज़्हारे-ख़याल करें, ताकि जिस मक़सद के तहत ये किताब तर्तीब दी गयी है वो मुकम्मल हो सके और इस किताब की मुनासिब व्याख्या हो सके।

अदब का एक आम पाठक ग़ज़लिया शायरी में वो मौज़ूआत (विषय) तलाश करता है जो अपनी तक़रार(आवृत्ति) के कारण स्वीकार किये जा चुके हैं, चाहे वो कितने ही पामाल और घिसा-पिटा क्यों न हों। अपने ही अहद की सच्ची शायरी उसे अपरिचित नज़र आती है, क्योंकि उसके ज़ेह्न ने अभी उतना सफ़र तय नहीं किया। बीसवीं सदी की समाप्ति और इक्कीसवीं सदी के आग़ाज़ तक आते-आते साइंसी और सन्अती तरक़्क़ी तथा मग़्रिबी तह्ज़ीब के सैलाब ने हमारे प्रचलित नियमों से लेकर हमारे रहन-सहन और लिबास तक में जो इन्क़लाब पैदा किया है उसके नतीजे में हमारी शायरी में व्यक्तिगत अनुभवों की गूँज और प्रचलित नैतिक, मज़हबी और सौन्दर्यबोध के मानदण्डों के खण्डन-विखण्डन ने एक संक्रमण और अस्त-व्यस्त स्थिति पैदा कर दी है। ८० की नस्ल का यही मुक़द्दर है। इससे पहले तरक़्क़ीपसन्दों के पास एक स्पष्ट उद्देश्य था। हलक़े के शायरों के लिए हैयत के तज्रबे, व्यक्ति-स्वातंत्र्य और व्यष्टिगत सोच अहमियत रखती थी। जदीदियत के अलमबरदारों ने हलक़े की रवायत को आगे बढ़ाया, लेकिन एक ख़ास आइडियोलॉजी का समाप्त होना, नये ज्ञान-विज्ञान का उदय और भारतीय विशेषताओं का सम्मान उनके लिए प्राथमिक था। माबाद जदीदियत(उत्तर-आधुनिकता) ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में वैश्विक सीमाओं को मानने से इन्कार किया। ८० के बाद की नस्ल की शायरी का प्रमुख रवैया क्या है? क्या ये शायरी मुख़्तलिफ़ ख़ानों में बँटी हुई महज़ रद्दे-अमल की शायरी है। इन्तिहाई पेचीदा शख़्सी तज्रबात, गुमशुदा तह्ज़ीबी और तमद्दुनी शिनाख़्त में नाकामी के कारण शायरी में लफ़्ज़ का बिल्कुल निजी इस्तेमाल। माबाद इल्तिबाती फ़िक्र, कभी ख़ालिस अरज़ी पनाहगाहों की तलाश जो इन्हें कभी घर, कभी जंगल और कभी किसी मस्जिद या मन्दिर की गलियों में छोड़ आती है। आख़िर ये शायरी है क्या? किस सम्त में गामज़न है? हमारे नक़्क़ादों, शायरों, अदीबों, सब ही दानिशवरों को अपने-अपने पूर्वाग्रहों को छोड़कर इन सवालों के जवाब देने होंगे। मैंने इस मज्मूए में शामिल शोअरा की ग़ज़लों ही में इन सवालों और जवाबों के अक्स ढूँढ़ने की कोशिश की है। जवाब न भी मिले तो कुछ देर के लिए ज़ेह्न को तस्कीन और ज़ौक़ की आबयारी तो होती है। इस इंतख़ाब के अध्ययन में हर शायर की ग़ज़लों से कम-से-कम कुछ ऐसे शेर पेश करना चाहूँगा जिन्होंने मेरी पलकों पर हाथ रखा है और मेरे ज़ेह्न के दरवाज़े पर दस्तक दी है—

अरशद अब्दुल हमीद—

कोई सबील हो ऐसी कि सब सँभलते रहें
हवा भी चलती रहे और दिये भी जलते रहें

अब भी तन तेग़ से लड़ जाय तो छन बोलता है
वक़्त ने इस पे अगर धूल जमा दी है तो क्या

कुछ सितारे मेरी पलकों पे चमकते हैं अभी
कुछ सितारे मेरे सीने में समाये हुए हैं

अहमद मह्फ़ूज़—

ये सारी बेमंज़री सवादे-सुकूत से है
सदा जो चमके तो धुँध के आरपार देखूँ
छोड़ो अब इस चराग़ का चर्चा बहुत हुआ
अपना तो शब के हाथों ख़सारा बहुत हुआ

सीनए-शब को चीरकर देखूँ तो क्या समाँ है अब
मंज़िले-दिल के सामने, कूचए-जाँ के आसपास

अकरम नक़्क़ाश—

हैरत के दफ़्तर जाऊँ
मैं अपने अन्दर जाऊँ

भेद ऐसा कि गिरह जिसकी तलब करती है उम्र
रम्ज़ ऐसा कि समझने में ज़माने लग जायें

बज़ाहिर देखती आँखें, बज़ाहिर जागती रूहें
बज़ाहिर इन सभूँ के साथ ही जीता रहा मैं भी

इक़्बाल ख़ुसरो क़ादिरी—

शाख़े-दिल, ग़ुंचए-ग़म, दश्ते-हवस
सब तो है देखा हुआ क्या देखूँ

ख़ुश्क आँखों से ख़ुश्क दामन तक
ये सफ़र गाम-गाम दर्द का है

फिर खुलती है संगे-दर की तक़्दीर
रिसता है लहू जबीं से पहले

तफ़्ज़ील अहमद—

किसी बेग़ुरूब निगाह से किसी लाज़वाल शुआअ में
सभी ज़ावियों से अलग-थलग मुझे हल करो मेरा हल नहीं

ज़रा मुब्हम सही मह्फ़ूज़ तो रह जायेंगे चेह्रे
तराशूँ संग आईने-सा ये धोखा नहीं देता

जो मुझसे छूट जायेंगे वो मंज़र कौन देखेगा
सफ़र पर मैं चला जाऊँ मेरा घर कौन देखेगा

साजिद हमीद—

रूह को पहले ख़ाकसार किया
फिर बदन मैंने तार-तार किया

अँगुलियाँ उठते-उठते गिरने लगीं
हम ने जब आसमान पार किया

रन में फिर भी रंग जमायेंगे 'साजिद'
मोम की गो तलवार है और शीशे की ढाल

सुहैल अख़्तर—

ख़िज़ाँ की आज़माइश हो गया हूँ
मैं एक जंगल की चाहत में रहा हूँ

कोई पानी में कब तक रह सकेगा
मैं अश्कों से तो आँखों तक भरा हूँ

कोई वहशत से भी मिलवाये मुझको
मैं सहरा में अभी बिल्कुल नया हूँ

शारिक़ कैफ़ी—

हैं अब इस फ़िक्र में डूबे हुए हम
उसे कैसे लगे रोते हुए हम

कोई देखे न देखे सालहा साल
हिफ़ाज़त से मगर रखे हुए हम

अभी तक ख़ामुशी कुछ सुन रही है
यहाँ आवाज़ कितनी गूँजती है

अज़रा परवीन—

मेरे बदन में इशा की अज़ान गूँजती है
मैं इस नमाज़ को पढ़ते ही सोनेवाली हूँ

यूँ घुल रहा है तेरी याद का नमक मुझमें
बराए-नाम है मेरी चमक-दमक मुझमें

मैं भूखे बच्चों की क़िस्मत को बाघ के मुँह से
न छीन पायी वो मस्जिद में सजदा करता रहा

राशिद तराज़—

ख़ून रोने के सिवा कुछ नहीं बाक़ी इनमें
कैसे आसूदए-ख़ंजर हुईं आँखें मेरी

मकाँ जले हैं मकीनों के क़त्ले-आम के बाद
महक लहू की उमड़ते धुआँ से आती है

रौशनी बनके अँधेरे में सफ़र हमने किया
दश्ते-तन्हाई से क्या ख़ूब गुज़र हमने किया

फ़राग़ रोहवी—

जो क़ैद करना है मुझको तो उस बदन में करो
कि जिस बदन से दिखायी दे आर-पार मुझे

कमाल जब है कि सँवरे वो अपने दरपन में
और उसका अक्स मेरे आइने में आ जाये

इक मुद्दत से फ़ासले क़ायम सिर्फ़ हमारे बीच ही क्यूँ
सबसे मिलता रहता हूँ मैं सबसे मिलता तू भी है

कबीर अज्मल—

उसी से 'अज्मल' तमाम फ़स्ले-ग़ुबारे-सहरा
उदास आँखों में फिर भी रौशन दिया उसी का

बहुत हुआ तो हवाओं के साथ रो लूँगा
अभी तो ज़िद है मुझे कश्तियाँ डुबोने दे

तह्ज़ीब की रगों से टपकते लहू में तर
दहलीज़ में पड़ा हुआ अखबार मैं ही था

नोमान शौक़—

मुझे क्या एतराज़ उनकी उड़ानों पर, धमाकों पर
मगर वो रेत जो हर बार इन आँखों में गिरती है

नाप सकता है कोई सर्द हवा तेरे सिवा?
ये जो ख़न्दक़ है मेरे चार सू वीराने की

तुम तो सर्दी की हसीं धूप का चेहरा हो जैसे
देखते रहते हैं दीवार से जाते हुए हम

जावेद नदीम–

मेरे वजूद से था तमाशा यहाँ 'नदीम'
मैं क्या गया कि साथ सभी ख़ैरो-शर गया

लोग होते ही अज़ाँ अपने सफ़र पर निकले
जाग भी जाओ समेटो मियाँ बिस्तर तुम भी

ज़िन्दगी लायी कहाँ हमको बताओ 'जावेद'
आँख हैरत से तही, दिल से है ख़ूँ भी ग़ायब

ख़ुर्शीद तलब–

बवक्ते-शाम जो सूरज ग़ुरूब होता है
मैं उसकी आँखों में अपना ज़वाल देखता हूँ

मंज़र की दीवार के पीछे इक मंज़र
काली चादर से मुँह ढाँपे इक मंज़र

चेहरा पढ़ना चाहूँ तो ओझल हो जाये
दूर खड़ा फिर हाथ हिलाये इक मंज़र

इन अश्‌आर को पढ़ने के बाद, मैं समझता हूँ आपको अन्दाज़ा हुआ होगा कि शायरी पर यकसानियत का इल्ज़ाम नहीं लगाया जा सकता। ये वो शायरी भी नहीं जो किसी मंसूबाबन्द इज्तिमाई तह्‌रीक (उद्देश्यपूर्ण सामूहिक आन्दोलन) या किसी ख़ास रुज्‌हान के ज़ेरे-असर लिखी गयी हो, बल्कि यहाँ शख़्सी तज्रबों की आँच ऐसी है कि कहीं-कहीं तो निजी इज़्हार के लिए भी लफ़्ज़ को मआनी की सत्‌ह से ऊपर उठकर अपनी अलाहदा फ़ज़ा तश्कील करनी पड़ती है। क्या ये बदलते मौसमों की आमद का इत्तिलानामा नहीं है?

ग़ज़ल-संकलन : **ग़ज़ल के रंग** (उर्दू)
सम्पादक : **अकरम नक़्क़ाश, सुहैल अख़्तर**
प्रकाशन : **अफ़्लाक पब्लिकेशन**
व्हाइट हाउस, न्यू बैंक कॉलोनी,
बिलालाबाद, गुलबर्गा- 585104 (कर्नाटक)
कुल पृष्ठ : **307**, मूल्य : **300 ₹**

(मूल उर्दू से लिप्यन्तरण : नूरुल एस. अंसारी)

डॉ. शिवओम अम्बर

अशोक अंजुम का ग़ज़ल-संग्रह

समकालीन हिन्दी-ग़ज़ल की लोकप्रिय सृजनधर्मी संज्ञाओं में अशोक अंजुम की संज्ञा एक विश्रुत संज्ञा है। समय-समय पर इनके ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित होते रहे हैं और इनकी अविराम साहित्य-साधना का साक्ष्य देते रहे हैं। इनके नव्यतम ग़ज़ल-संग्रह का शीर्षक है- 'यूँ ही'। इस शीर्षक को इसी संग्रह में उपस्थित उनकी एक विशिष्ट ग़ज़ल से लिया गया है। जिसके सभी अश्आर अत्यधिक व्यंजक हैं। प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं—

लोग देते हैं दुआ यूँ ही   कारवाँ फिर भी लुट गया यूँ ही

प्राय: अज़ीज़ों से अनुरोध किया जाता है कि हमारे हक़ में दुआएँ करो, क्योंकि सच्ची दुआएँ कामयाब होती हैं, जीवन के जटिल संघर्ष-पथ पर संचरण करनेवालों के लिए वे रक्षा-कवच बन जाती हैं। प्रस्तुत ग़ज़ल में कवि एक नि:श्वास भरकर समय की खोखली औपचारिकता पर प्रहार करते हुए कहता है कि संचरणशील समूह के सभी सदस्यों को दुआएँ तो भरपूर दी गयीं, किन्तु निश्चित रूप से वे सामाजिक लोकाचार का निर्वहन मात्र थीं। हार्दिकता की ऊष्मा से आपूरित अभिव्यंजनाएँ नहीं थीं, अत: यूँ ही कर्मकाण्ड की रीतियाँ परिपूर्ण होती रहीं और विपत्तियाँ सहज भाव से आती रहीं, उन्हें निर्ममतापूर्वक लूटा जाता रहा। ग़ज़ल में कवि के द्वारा चुनी गयी रदीफ़ 'यूँ ही' हर शेर के साथ अवसाद-बोध को गहरा करती जाती है और फिर विविध आयामों से जीवन की निस्संग क्रूरता को निरूपित करती है। जैसे-

तेरी यादें थीं और तन्हाई   चाँद देता रहा सदा यूँ ही

कवि अपने प्रेमास्पद की स्मृतियों को जीते हुए उसकी अनुपस्थिति के दंश और अपनी एकाकी नियति का अनुभव कर रहा है, किन्तु अपनी अन्यमनस्कता में कवि प्रकृति के बिम्बों के साथ एकात्मकता स्थापित नहीं कर पाता और उसे लगता है कि चन्द्रमा अगर आवाज़ लगा भी रहा है तो भी किसी विशेष भाव से भरकर नहीं, उसके प्रति अतिरिक्त संवेदनशील होकर नहीं, बस 'यूँ ही'।

बात आगे बढ़ती है और कवि को प्रेमास्पद के विश्वासघातक व्यवहार का स्मरण हो आता है। उसने जिस पर विश्वास करके अपनी ज़िन्दगी की वज्ह, अपने जीवन की अर्थवत्ता के रूप में देखा था, वो उसे पूर्णत: उपेक्षित कर आगे बढ़ गया, बिना किसी उचित कारण के 'यूँ ही'—

तुम पे विश्वास करके जीते थे   हो गये तुम भी बेवफ़ा यूँ ही

कवि के साथ बेवफ़ाई अन्यों ने भी की है, किन्तु उसे भारी मलाल इस बात का है कि उसके विश्वास का केन्द्र उसका प्रेमास्पद भी तमाम जागतिक मित्रों की तरह हृदयाघाती व्यवहार कर बैठा। उसने इस बात का विचार ही नहीं किया कि उसके एक अनपेक्षित कठोर निर्णय से किसी संवेदनशील इंसान का एक इन्द्रधनुषी विश्व उजड़ जायेगा—

एक दुनिया उजड़ गयी पल में   कर दिया तुमने फ़ैसला यूँ ही

एक समय सचेत कवि की भूमिका निभाते हुए अशोक अंजुम ने ऐसे अनेक अश्'आर कहे हैं, जो हमारे दैनन्दिन जीवन में परिव्याप्त आत्मकेन्द्रित मानसिकता और इधर समाज में दिनो-दिन वृद्धि को प्राप्त होती व्यावसायिकता के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं—

रात आधी देखते टी० वी० रहे फिर सो गये
कल पड़ोसी लुट गया अख़बार से मालूम हुआ

सर्वत्र गहराती नकारात्मकता के बीच कवि की अमृत-संधानी दृष्टि ऐसी स्वस्तिकर सकारात्मकता भी पा ही लेती है जो मावस की देहरी पर ज्योति-शिखा का रूपक रच सके—

डूबती उम्मीद को फिर रौशनाई दे रहा है
वो पिता के हाथ में पहली कमाई दे रहा है

उपयुर्क्त पंक्तियों के सम्यक् अनुभावन के लिए हमें कवि की भावप्रवण दृष्टि के साथ सम्बद्ध होकर उपस्थित बिम्बों में गहरे उतरना होगा। यहाँ पिता के हाथ में पहली कमाई देनेवाला बेटा उसकी डूबती आशाओं के लिए एक नयी राहत, एक अभिनव उमंग बनकर आया है। जैसे किसी कोरे काग़ज़ पर कोई रौशनाई से आश्वास्ति-वचन लिख दे, कोई सिद्ध-मन्त्र अंकित कर दे, वैसे ही ये पहली कमाई है। बाप का हाथ काग़ज़ है और कमाई उस काग़ज़ पर रौशनी की स्वर्णिम रौशनाई से अंकित स्वस्ति है। इस प्रकार दुआएँ परमसत्ता से की गयी प्रार्थनाएँ हैं, कल्याण-कामनाएँ हैं। बच्चे का हाथ बचपन की निश्छल स्मिति का हाथ है और भाव-गद्गद् बुज़ुर्ग की वाणी मूर्तिमयी प्रार्थना है। यहाँ दुआएँ आशीषों की तरह व्यक्तित्व रूपी वृक्ष से विच्छुरित हो रही हैं। चाक्षुस बिम्बों की यह बड़ी ही कलात्मक प्रस्तुति है।

अशोक अंजुम की अभिव्यक्ति की एक बहुत बड़ी विशेषता, उसकी सरलता है। उनकी भाषा आम आदमी की दैनन्दिन व्यवहार की भाषा है। वे स्वाभाविक और सहज रूप से बोलचाल में आनेवाले शब्दों को कविता की काया प्रदान कर देते हैं। कितनी सादा ज़बान में दी गयी चुनौती है—

आइने से नज़र मिला तो सही
मुझसे मत पूछ बेवफ़ा है कौन

तथा कितनी सरलता से शब्दायित दार्शनिकता है—

ज़रा-सा बीज था कल तक वो अब आकाश छूता है
बना दे बूँद को सागर रखे क्या-क्या हुनर मिट्टी
ज़रूरी है कि खुलते भी रहें खिड़की-ओ-दरवाज़े
वगरना हो न जाये एक दिन तेरा ये घर मिट्टी

यहाँ कवि के शब्द-संसार में साधिकार उपस्थिति दर्ज करवाता हुआ आइना भी है, आकाश भी। बीज, हुनर, मिट्टी, बूँद, सागर आदि सभी एक विस्तृत कुटुम्ब के सदस्यों की तरह भाषा की एक ही बड़ी हवेली में निवास करते हैं। अशोक अंजुम इसी कारण जन-सामान्य और प्रबुद्ध जन दोनों में लोकप्रिय और सम्मानित हैं।

सामाजिक मानसिकता की निरन्तर नव्यता के प्रति वो जागरूक हैं और साहित्य के परिक्षेत्र में विधा के व्याकरणवेत्ता आचार्यों के प्रति थोड़ा विक्षुब्ध भी। इनकी ये स्पष्ट घोषणा है कि उन्होंने हमेशा अपना ध्यान कथ्य से जोड़कर रखा है। इनका इशारा है कि भावोन्मेष में यदि किसी व्याकरणिक नियम की अवहेलना हुई भी है तो इन्होंने उसको ज़रूरत से अधिक तवज्जो नहीं दी है, जबकि आचार्यगण अपनी सारी बौद्धिक क्षमता कलात्मक दृष्टि से विधा की नोक-पलक सँवारने में ही व्यतीत करते रहते हैं—

कहाँ तक डरोगे कहाँ तक बचोगे
ये दुनिया है दुनिया ख़बर ढूँढ़ती है
कहन पर मेरा ज़ोर रहता है यूँ ही
तुम्हारी ग़ज़ल बस बहर ढूँढ़ती है

यूँ ही के अन्तर्गत अशोक अंजुम के कुछ मुक्तक/क़त्आत भी 'किरचें एहसास की' शीर्षक से संकलित है। जीवन की विविधवर्णी मुद्राओं पर, परिपार्श्व की घटनाओं-परिघटनाओं पर ये मुक्तक बेबाक टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते हैं। इनमें एक जागरूक नागरिक की अंगारक प्रतिक्रियाएँ भी हैं और एक अनुराग-प्रवण अन्तस् की सुकोमल उद्‌भावनाएँ भी। दोनों ही तरह के मुक्तकों के एक-एक उदाहरण प्रस्तुत हैं—

नहीं दिखती दिशा कोई कहाँ जाये, किधर जाये
ये तुलसी को हटाकर नागफनियाँ बो रही हैं अब
न ये कर्तव्य को समझे, न इसको देश की चिन्ता
जवानी सेक्स की रंगीनियों में खो रही है अब

सारे रंगीन नज़ारों की चमक जाती रही
चाँद के आगे सितारों की चमक जाती रही
तुम न आये थे, यहाँ जुगनुओं का चर्चा था
तुम जो आये तो हज़ारों की चमक जाती रही

अशोक अंजुम की स्वप्निल दृष्टि इस देश की हर तरह से समृद्ध और परिवेश को सांस्कृतिक श्री से समन्वित देखना चाहती है। उसे पाश्चात्य जीवन-दर्शन से प्रभावित वो व्यवहार बेहद चुभता है जिसमें पिता-पुत्र किसी उत्सव में एक साथ आसव-आचमन करते हैं और अपनी तथाकथित प्रगतिशीलता पर गर्व करते हैं। वो चाहते हैं कि वादों-विवादों और प्रतिवादों के इस दौर में हार्दिक संवाद का क्रम जारी रहे और लोग अपने को एक-दूसरे के क़रीब महसूस करें। उन्हें इस संसार में ही परमात्म-सत्ता की प्रकाशमयता का दर्शन उस मासूम बच्चे में होता है जो अपनी माँ की दवा लाने के लिए अपनी गुल्लक तोड़ देता है और बड़ी शिद्दत से ये भी महसूस करते हैं कि सफ़र की कड़ी धूप भी माँ के शुभाशीष का संस्पर्श पाकर सौम्य और शीतल बन जाती है। ऐसा भाव व्यक्त करनेवाले उनके ये अश्आर देकर उनकी समर्थ लेखनी का अभिनन्दन करते हुए इस संक्षिप्त टिप्पणी को विराम देता हूँ—

ये बच्चा क्या ही बच्चा है ख़ुदा का नूर पाया है
जो गुल्लक तोड़कर अपनी, दवाई माँ की लाया है
सफ़र में धूप कितनी हो मगर रहती है ठण्डक-सी
सफ़र में साथ मेरे माँ के आशीषों का साया है

ग़ज़ल-संग्रह : **यूँ ही**, ग़ज़लकार : **अशोक अंजुम**
प्रकाशन : **संवेदना प्रकाशन, स्ट्रीट-2,**
चन्द्र विहार कॉलोनी (नगला डालचन्द)
क्वारसी बाइपास, अलीगढ़- 202001
कुल पृष्ठ : **96** मूल्य : **150 ₹**

अख़्तर शीरानी

मस्ताना पिये जा, यूँ ही मस्ताना पिये जा

अख़्तर शीरानी का जन्म 4 मई 1905 ई. को टोंक में हुआ। इनका मूल नाम मो. दाऊद ख़ाँ था। ग़ालिबन् राजस्थान उर्दू अकादमी का सर्वोच्च 'महमूद शीरानी सम्मान' इनके पिता जी के ही नाम से निर्धारित किया गया है। इनका शुमार उर्दू-शायरी के उन शायरों में होता है जिन्होंने उर्दू-ग़ज़ल में एक अपना रंग भर दिया हो। ग़ज़ल की विशाल परम्परा में अपनी एक विशिष्ट शैली स्थापित कर देना असाधारण उपलब्धि मानी जाती है। ये मूलत: नज़्मों के शायर हैं। यही कारण है कि इनकी ग़ज़लों के अश्आर एक ही मज़्मून के इर्द-गिर्द घूमते हैं। इन्हें उर्दू-शायरी की रोमैण्टिक धारा का अति विशिष्ट और अन्तिम शायर माना जाता है। इनकी तमाम मौलिक उद्‌भावनाओं में से एक ये है कि— इन्होंने पहली बार महबूब या अपने माशूक़ के लिए स्त्रीलिंग क्रियाओं और सर्वनामों का प्रयोग किया, यहाँ तक कि इनकी नज़्मों में कई स्त्री-नाम देखे जा सकते हैं। 'सल्मा' के ऊपर तो इनकी लगभग दो दर्जन से अधिक नज़्में हैं। ''कुछ समालोचकों की दृष्टि में 'सल्मा'' भी वर्ड्सवर्थ की 'लूसी' और कीट्स की 'फैनी ब्राउनी' की तरह कवि की कल्पित प्रेयसी है— एक पवित्र परछाईं, एक अलौकिक सुन्दरी'', लेकिन ऐसा नहीं है— ''अख़्तर के एक परम मित्र हकीम नैयर वास्ती ने अपनी एक पुस्तक 'अख़्तर और सल्मा' में बड़े विस्तार से बताया है कि सल्मा शायर की कोई कल्पित नायिका नहीं, बल्कि इसी संसार की एक सजीव सुन्दरी है जिससे शायर को असीम प्रेम था और सल्मा भी उसे जी-जान से चाहती थी, लेकिन सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण सल्मा का विवाह कहीं दूसरी जगह हो गया और शायर ने इस विछोह की पीड़ा का इलाज शराब में ढूँढ़ना चाहा।''

अख़्तर शीरानी की मृत्यु 9 सितम्बर 1948 को लाहौर के एक अस्पताल में हुई। इन्होंने जितना रचनात्मक कार्य मात्र 43 साल की उम्र में ही कर डाला उतना अन्य के लिए 86 वर्ष में भी सम्भव नहीं। यहाँ यथासम्भव प्राप्त हो पायी सूचनाओं के आधार पर इनके समस्त कृतित्व का उल्लेख इस उद्देश्य से किया जा रहा है कि हमें अनुमान हो सके कि असफल प्रेम द्वारा उत्पन्न अवसाद-विषाद, निर्धनता की सीमाओं को छूती हुई आर्थिक तंगी और अत्यधिक शराबनोशी के बावजूद अदम्य सृजन-शक्ति और प्राकृतिक काव्य-प्रतिभा को दबाया नहीं जा सकता।

फूलों के गीत(1936), शेरिस्तान(1941), नग़मा-ए-हरम(1939), सुब्हे-बहार (1945), अख़्तरिस्तान (1946), लाला-ए-तूर(1946), तयूरे-आवारा(1946), शहनाज़ (1946), शहरूद(1949) इनके प्रमुख काव्य-संग्रह हैं। इनके अलावा अनुवाद, सम्पादन तथा गद्य-लेखन में इनकी 5 किताबें हैं– ज़हहाक(1930), आईनाख़ाने में(1934), जवामुल हिकायात-ओ-लवामुल रिवायात(1943), धड़कते दिल(1946), वो भी देखा ये

भी देख(1947)। इनकी मृत्यु के पश्चात् 1957 में 'अख़्तर-ओ-सल्मा के ख़ुतूत' नाम से इनके पत्रों का संकलन भी प्रकाशित हुआ।

सृजनात्मक कार्यों के अन्तर्गत ही इन्होंने समय-समय पर विभिन्न पत्रिकाओं का भी सम्पादन किया– हुमायूँ, इन्तख़ाब(1925), ख़यालिस्तान(1928), रूमान(1931), शाहकार, सहेली, शीराज़ा।

सन्दर्भ :

१. कुल्लियाते-अख़्तर शीरानी, सम्पा.- डॉ. यूनुस हसनी(कराची)
   फ़रीद बुक डिपो, नयी दिल्ली
२. अख़्तर शीरानी और उनकी शायरी, सम्पा.- प्रकाश पण्डित
   राजपाल एण्ड संस, नयी दिल्ली
३. बृहद उर्दू साहित्य कोश, कमल नसीम
   वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

मस्ताना पिये जा, यूँ ही मस्ताना पिये जा
पैमाना तो क्या चीज़ है, मयख़ाना पिये जा

कर ग़र्क़ मय–ओ–जाम, ग़मे–गर्दिशे–अय्याम
हाँ अय दिले–नाकाम हकीमाना पिये जा

मयनोशी के आदाब से आगाह नहीं तू
जिस तरह कहे साक़िए–मयख़ाना पिये जा

कश्कोल हो या साग़रे–जम, नश्शा है यकसाँ
शाहाना पिये जा कि फ़क़ीराना पिये जा

इस मक्र की बस्ती में है मस्ती ही से हस्ती
दीवाना बन और बादिले–दीवाना पिये जा

हर जाम में रक़्साँ है परीख़ानए–मस्ती
आँखों से लगाकर ये परीख़ाना पिये जा

मयख़ाने के हंगामे हैं कुछ देर के मेह्माँ
है सुब्ह क़रीब अख़्तरे–दीवाना पिये जा



दिल में ख़याले-नर्गिसे-मस्ताना आ गया
फ़ूलों से खेलता हुआ दीवाना आ गया

बादल के उठते ही मैए-पैमाना आ गया
बिजली के साथ-साथ परीख़ाना आ गया

मस्तों ने इस अदा से किया रक़्से-नौबहार
पैमाना क्या कि वज्द में मैख़ाना आ गया

उस चश्मे-मयफ़रोश की तासीर क्या कहूँ
आँखों तक आज आप ही पैमाना आ गया

मालूम किसको क़ैस की दीवानगी की शान
हंगामा-सा बपा है कि दीवाना आ गया

'अख़्तर' ग़ज़ब थी अहदे-जवानी की दास्ताँ
आँखों के आगे एक परीख़ाना आ गया



वादा उस माहरू के आने का
ये नसीबा, सियाहख़ाने का!

कह रही है निगाहे-दुज़्दीदा
रुख़ बदलने को है ज़माने का

ज़र्रे-ज़र्रे में बेहिजाब हैं वो
जिनको दावा है मुँह छुपाने का

हासिले-उम्र है शबाब, मगर
इक यही वक़्त है गँवाने का

चाँदनी, ख़ामुशी और आख़िरे-शब
आ कि है वक़्त दिल में आने का

है क़यामत तेरे शबाब का रंग
रंग बदलेगा फिर ज़माने का

तेरी आँखों की हो न हो तक़्सीर
नाम रुस्वा शराबख़ाने का

रह गये बनके हम सरापा ग़म
ये नतीजा है दिल लगाने का

जिसका हर लफ़्ज़ है सरापा ग़म
मैं हूँ उन्वान उस फ़साने का

उसकी बदली हुई नज़र, तौबा!
यूँ बदलता है रुख़ ज़माने का

देखते हैं हमें वो छुप-छुपकर
पर्दा रह जाये, मुँह छुपाने का

कर दिया ख़ूगरे-सितम 'अख़्तर'
हम पे एहसान है ज़माने का



आर्ज़ू वस्ल की रखती है परीशाँ क्या-क्या
क्या बताऊँ कि मेरे दिल में हैं अरमाँ क्या-क्या

ग़म अज़ीज़ों का, हसीनों की जुदाई देखी
देखें, दिखलाये अभी गर्दिशे-दौराँ क्या-क्या

उनकी ख़ुश्बू है, फ़ज़ाओं में परीशाँ हर सू
नाज़ करती है हवा-ए-चमनिस्ताँ क्या-क्या

दश्ते-ग़ुरबत में रुलाते हैं हमें याद आकर
अय वतन! तेरे गुलो-सुम्बुलो-रैहाँ क्या-क्या

अब वो बातें, न वो रातें न मुलाक़ातें हैं
महफ़िलें, ख़्वाब की सूरत हुईं वीराँ क्या-क्या

है बहारे-गुलो-लाला मेरे अश्कों की नमूद
मेरी आँखों ने खिलाये हैं गुलिस्ताँ क्या-क्या

है करम उनके सितम का कि करम भी है सितम
शिकवे सुन-सुनके वो होते हैं पशेमाँ क्या-क्या

गेसू बिखरे हैं मेरे दोश पे कैसे-कैसे
मेरी आँखों में हैं आबाद शबिस्ताँ क्या-क्या

वक़्ते-इम्दाद है अय हिम्मते-गुस्ताख़िए-शौक़
शौक़अंगेज़ हैं उनके लबे-ख़न्दाँ क्या-क्या

सैरे-गुल भी है हमें बाइसे-वहशत 'अख़्तर'
उनकी उल्फ़त में हुए चाक गरेबाँ क्या-क्या



कुछ उड़ा लो मज़ा जवानी का
क्या भरोसा है ज़िन्दगानी का

धूम है अपने इश्क़ की घर-घर
हक़ अदा हो गया जवानी का

जिसका पर्दा है उसकी बातें हैं
क्या खुले भेद उम्रे-फ़ानी का

कोई ला दे ज़बाने-हाल मुझे
शिकवा करना है बेज़बानी का

दिन को आहें हैं, रात को आँसू
इश्क़ है खेल आग-पानी का

वो ज़फ़ा हो कि हो वफ़ा 'अख़्तर'
शुक्र है उनकी मेह्रबानी का



कुछ तो तन्हाई की रातों में सहारा होता
तुम न होते न सही, ज़िक्र तुम्हारा होता

तर्के-दुनिया का ये दावा है फ़िज़ूल अय ज़ाहिद
बारे-हस्ती तो ज़रा सर से उतारा होता

वो अगर आ न सके, मौत ही आयी होती
हिज्र में कोई तो ग़मख़्वार हमारा होता

ज़िन्दगी कितनी मसर्रत से गुज़रती यारब
ऐश की तरह अगर ग़म भी गवारा होता

अज़्मते-गिरिया को कोताह-नज़र क्या समझें
अश्क अगर अश्क न होता तो सितारा होता

लबे-ज़ाहिद पे है अफ़्सानए-हूरे-जन्नत
काश! इस वक़्त मेरा अंजुमनआरा होता

ग़मे-उल्फ़त जो न मिलता ग़मे-हस्ती मिलता
किसी सूरत तो ज़माने में गुज़ारा होता

किसको फ़ुर्सत थी ज़माने के सितम सहने की
गर न उस शोख़ की आँखों का इशारा होता

कोई हमदर्द ज़माने में न पाया 'अख़्तर'
दिल को हस्रत ही रही कोई हमारा होता



गुलज़ार जहाँ में गुल की तरह गो शाद हैं हम, शादाब हैं हम
कहती है ये हँसकर सुब्हे-ख़िज़ाँ, सब नाज़ अबस इक ख़्वाब हैं हम

किस माहे-लक़ा के इश्क़ में यूँ बेचैन हैं हम, बेताब हैं हम
किरनों की तरह आवारा हैं हम, तारों की तरह बेख़्वाब हैं हम

मिट जाने पे भी मसरूर हैं हम, मुरझाने पे भी शादाब हैं हम
शबहाए-शबाबो-इश्क़ का इक भूला हुआ रंगीं ख़्वाब हैं हम

ख़ुशवक़्ती है वज्हे-रंजो-अलम गुलज़ारे-जहाँ में अय हमदम
ताएर न पुकारें शाद हैं हम, ग़ुंचे न कहें शादाब हैं हम

मिलने पे गर आयें कोई मकाँ ख़ाली नहीं अपने जल्वों से
और गोशानशीं हो जायें अगर, कमयाब नहीं नायाब हैं हम

दो दिन के लिए हम आये हैं, इक शब की जवानी लाये हैं
फ़िर्दौसे-सराये-हस्ती में हमरंगे-गुले-महताब हैं हम

रुस्वाइए-शेरो-इश्क़ ने वो रुत्बा हमें 'अख़्तर' बख़्शा है
फ़ख़्रे-दकनो-बंगाल हैं हम, नाज़े-अवधो-पंजाब हैं हम



यक़ीने-वादा नहीं, ताबे-इन्तिज़ार नहीं
किसी तरह भी दिले-ज़ार को क़रार नहीं

शबों को ख़्वाब नहीं, ख़्वाब को क़रार नहीं
कि ज़ेबदोश वो गेसू-ए-मुश्कबार नहीं

कली-कली में समायी है, निक्हते-'सल्मा'
शमीमे-हूर है ये बू-ए-नौबहार नहीं

कहाँ-कहाँ न हुए माहरू जुदा मुझसे
कहाँ-कहाँ मेरी उम्मीद का मज़ार नहीं

ग़मों की फ़स्ल हमेशा रही तरो-ताज़ा
ये वो ख़िज़ाँ है कि शर्मिन्दए-बहार नहीं

बहार आयी है, ऐसे में तुम भी आ जाओ
कि ज़िन्दगी का, बरंगे-गुल एतबार नहीं

किसी की ज़ुल्फ़े-परीशाँ का साया रक़्साँ है
फ़ज़ा में बालफ़िशाँ अब्रे-नौबहार नहीं

सितारावार वो पहलू में आ गये शब को
सहर से कह दो कि मह्फ़िल में आज बार नहीं

गुले-फ़र्सुदा भी इक तुर्फ़ा हुस्न रखता है
ख़िज़ाँ ये है तो मुझे हस्रते-बहार नहीं

हर एक जाम पे ये नग़मए-हज़ीं साक़ी!
कि इस जवानिए-फ़ानी का एतबार नहीं

ख़ुदा ने बख़्श दिये मेरे दिल को ग़म इतने
कि अब मैं अपने गुनाहों पे शर्मसार नहीं

चमन की चाँदनी रातें हैं किस क़दर वीराँ
कि इस बहार में वो माहे-नौबहार नहीं

शरीके-सोज़ हैं परवाने शम्अ के 'अख़्तर'
हमारे दिल का मगर कोई ग़मगुसार नहीं



वो कहते हैं रंजिश की बातें भुला दें
मुहब्बत करें, ख़ुश रहें, मुस्कुरा दें

ग़ुरूर और हमारा ग़ुरूरे-मुहब्बत
महो-मेह्र को उनके दर पर झुका दें

जवानी हो गर जाविदानी तो या रब
तेरी सादा दुनिया को जन्नत बना दें

शबे-वस्ले की बेख़ुदी छा रही है
कहो तो सितारों की शम्अें बुझा दें

बहारें सिमट आयें, खिल जायें कलियाँ
जो हम-तुम चमन में कभी मुस्कुरा दें

इबादत है इक बेख़ुदी से इबारत
हरम को मये-मुश्कबू से बसा दें

वो आयेंगे आज अय बहारे-मुहब्बत
सितारों के बिस्तर पे कलियाँ बिछा दें

बनाता है मुँह तल्ख़िए-मय से ज़ाहिद!
तुझे बाग़े-रिज़्वाँ सै कौसर मँगा दें?

जिन्हें उम्र भर याद आना सिखाया
वो दिल से तेरी याद क्यूँकर भुला दें

तुम अफ़्सानए-क़ैस क्या पूछते हो
इधर आओ, हम तुमको लैला बना दें

ये बेदर्दियाँ कब तक अय दर्दे-ग़ुरबत
बुतों को फिर अर्ज़े-हरम में बसा दें

वो सरमस्तियाँ बख़्श अय रश्के-शीरीं
कि ख़ुस्रो को ख़्वाबे-अदम से जगा दें

तेरे वस्ल की बेख़ुदी कह रही है
ख़ुदाई तो क्या, हम ख़ुदा को भुला दें

उन्हें अपनी सूरत पे यूँ नाज़ कब था
मेरे इश्क़े-रुस्वा को 'अख़्तर' दुआ दें



किसकी आँखों का लिये दिल पे असर जाते हैं
मयकदे हाथ बढ़ाते हैं जिधर जाते हैं

दिल में अरमाने-विसाल, आँख में तूफ़ाने-जमाल
होश बाक़ी नहीं जाने का मगर जाते हैं

भूलती ही नहीं दिल को तेरी मस्ताना निगाह
साथ जाता है ये मयख़ाना जिधर जाते हैं

पासबाने-हया क्या हुआ, अय दौलते-हुस्न
हम चुराकर तेरी दुज़्दीदा नज़र जाते हैं

चश्मे-हैराँ में समाये हैं ये किसके जल्वे
तूर हर गाम पे रक़्साँ हैं जिधर जाते हैं

जिस तरह भूले मुसाफ़िर कोई सामाँ अपना
हम यहाँ भूल के दिल और नज़र जाते हैं

कितने बेदर्द हैं इस शह्र के रहनेवाले
राह में छीन के दिल, कहते हैं घर जाते हैं

अगले वक़्तों में लुटा करते थे रहरौ अक्सर
हम तो इस अहद में भी लुट के मगर जाते हैं

फ़ैज़आबाद[1] से पहुँचा हमें ये फ़ैज़ 'अख़्तर'
कि जिगर पर लिये हम दाग़े-जिगर जाते हैं



1. फ़ैज़ाबाद

मैं आर्ज़ूए-जाँ लिखूँ या जाने-आर्ज़ू
तू ही बता दे नाज़ से ईमाने-आर्ज़ू

आँसू निकल रहे हैं तसव्वुर में बनके फूल
शादाब हो रहा है गुलिस्ताने-आर्ज़ू

ईमानो-जाँ निसार तेरी इक निगाह पर
तू जाने-आर्ज़ू है तू ईमाने-आर्ज़ू

मिस्रे-फ़िराक़ कब तलक अय युसुफ़े-सानी
रोता है तेरे हिज्र में कन्आने-आर्ज़ू

होने को है तुलूअ, सबाहे-शबे-विसाल
बुझने को है चराग़े-शबिस्ताने-आर्ज़ू

इक वो कि आर्ज़ूओं पे जीते हैं उम्र भर
इक हम कि हैं अभी से पशेमाने-आर्ज़ू

आँखों से जूए-ख़ूँ है रवाँ, दिल है दाग़-दाग़
देखे कोई बहारे-गुलिस्ताने-आर्ज़ू

दिल में निशाते-रफ़्ता की धुँधली-सी याद है
या शम्अे-वस्ल है तहे-दामाने-आर्ज़ू

'अख़्तर' को ज़िन्दगी का भरोसा नहीं रहा
जब से लुटा चुके सरो-सामाने-आर्ज़ू



कौन आया तेरे पहलू में ये ख़्वाब-आलूदा
ज़ुल्फ़े- बरहमो- चश्मे- हिजाब- आलूदा

आह ये ज़ुल्फ़ है या अब्रे-सरे-मयख़ाना
आह ये आँख है या जामे-शराब-आलूदा

किसने पहलू में बिठाया ये मुझे शरमाकर
किसके हाथों में है लर्ज़िश ये हिजाब-आलूदा

किसके मल्बूस से आती है हिना की ख़ुश्बू
किसके हर साँस की जुम्बिश है गुलाब-आलूदा

किसको शिकवा है मेरे इश्क़ से रुस्वाई का
किसका लहजा है ब ईं लुत्फ़े-इताब-आलूदा

फिर हमआग़ोशी के मौसम ने बिखेरे गेसू
फिर फ़ज़ाएँ नज़र आती हैं सहाब-आलूदा

हस्रते-बोसा पर 'अख़्तर' ये ख़याल आता है
क्यूँ मेरे लब से हों वो बर्गे-गुलाब-आलूदा



अदाए-पर्दा कितनी दिलनशीं मालूम होती है
पसे-पर्दा कोई नाज़-आफ़रीं मालूम होती है

निगाहे-नाज़ कितनी शर्मगीं मालूम होती है
कोई महबूबा पर्दानशीं मालूम होती है

लबे-ख़ामोश में पिन्हाँ 'नहीं' मालूम होती है
निगाहे-अव्वलीं ही वापसीं मालूम होती है

ये किसको देखकर देखा है मैंने बज़्मे-हस्ती को
कि जो शय है निगाहों को हसीं मालूम होती है

तुम अपना आस्ताँ अच्छी तरह पहचान सकते हो
हमें तो ये हमारी ही जबीं मालूम होती है

मुहब्बत इस तरह मालूम हो जाती है दुनिया को
कि ये मालूम होता है नहीं मालूम होती है

सवादे-यास में इक परतवे-उम्मीद क्या कहिए
अँधेरे घर में कोई महजबीं मालूम होती है

किसी का इश्क़ आ पहुँचा है रुस्वाई की मंज़िल तक
निगाहे-शोख़ अब कुछ शर्मगीं मालूम होती है

निकाले जाते हैं अहले-वफ़ा, अग़्यार के बदले
तेरे घर की ज़मीं ख़ुल्दे-बरीं मालूम होती है

हज़ारों में से इक दिल को भी ख़ुश पाते नहीं 'अख़्तर'
ख़ुदाई किस कदर अन्दोहगीं मालूम होती है



मेरी आँखों से ज़ाहिर ख़ूँफ़िशानी अब भी होती है
निगाहों से बयाँ दिल की कहानी अब भी होती है

बिहिश्तों से ख़फ़ा दुनियाए-फ़ानी अब भी होती है
जुनूँ को हिर्से-उम्रे-जाविदानी अब भी होती है

सुरूरआरा शराबे-अर्ग़वानी अब भी होती है
मेरे क़दमों में दुनिया की जवानी अब भी होती है

कोई झोंका तो लाती, अय नसीम, अत्राफ़े कन्आँ तक
सवादे-मिस्र में अम्बरफिशानी अब भी होती है

वो शब को मुश्कबू पर्दों में छुपकर आ ही जाते हैं
मेरे ख़्वाबों पर उनकी मेह्रबानी अब भी होती है

कहीं से हाथ आ जाये तो हमको भी कोई ला दे
सुना है इस जहाँ में शादमानी अब भी होती है

कहीं अग़्यार के ख़्वाबों में छुप-छुपकर न जाते हों
वो पहलू में हैं लेकिन बदगुमानी अब भी होती है

समझता है शिकस्ते-तौबा, अश्के-तौबा को ज़ाहिद
मेरी आँखों की रंगत अर्ग़्वानी अब भी होती है

वो बरसातें, वो बातें, वो मुलाक़ातें कहाँ हमदम
वतन की रात होने को सुहानी, अब भी होती है

ख़फ़ा हैं फिर भी आकर छेड़े जाते हैं तसव्वुर में
हमारे हाल पर कुछ मेह्रबानी अब भी होती है

ज़बाँ ही में न हो तासीर तो मैं क्या करूँ नासेह
तेरी बातों से पैदा सरगिरानी अब भी होती है

तुम्हारे गेसुओं की छाँव में इक रात गुज़री थी
सितारों की ज़बाँ पर ये कहानी अब भी होती है

पसे-तौबा भी पी लेते हैं, जामे-ग़ुंचओ-गुल से
बहारों में जुनूँ की मेह्मानी अब भी होती है

कोई ख़ुश हो, मेरी मायूसियाँ फ़रियाद करती हैं
इलाही! क्या जहाँ में शादमानी अब भी होती है

बुतों को कर दिया था जिसने मज्बूरे-सुख़न 'अख़्तर'
लबों पर वो नवाए-आस्मानी, अब भी होती है



मेरी रूह रंगीं, मेरी जान शीरीं
तमन्नाए-ज़र्री-ओ-अर्मान शीरीं

तेरा रुख़ है बर्क़े-सहाबे-बहारीं
तेरे लाल लब हैं गुलिस्तान शीरीं

तख़य्युल तेरा एक वादी-ए-रंगीं
तसव्वुर तेरा इक ख़याबान शीरीं

तेरी याद इक जन्नते-रंगों-बू है
तेरा ख़्वाब इक यूसुफ़िस्तान शीरीं

तेरा इश्क़ जिस दिन से है जल्वाफ़र्मा
मेरा दिल बना है शबिस्तान शीरीं

हैं काकुल तेरे अब्रे-बाराने-निकहत
हैं आँखें तेरी नर्गिसिस्तान शीरीं

तेरी जादे-मिश्कीं है ख़्वाबे-बहाराँ
तेरी ज़ुल्फ़ है सुबुलिस्तान शीरीं



मिसाले-गर्द, रवाँ मेरे रहगुज़र में हैं
वो जल्वे जो महो-नाहीद की नज़र में हैं

किसी को कूच का फ़र्मां, किसी को हुक्मे-क़याम
तेरे जहाँ में हैं यारब कि हम सफ़र में हैं

तेरे ही जाम का साक़ी मुझे सुरुर नहीं
कुछ और जाम भी रक़्साँ मेरी नज़र में हैं

हर एक ज़र्रे पे धोखा है अंजुमिस्तान का
ये किसके जल्वे परीशाँ मेरी नज़र में हैं

अजीब रंग है दौरे-क़यामे-आलम का
कि हम सफ़र में नहीं और फिर सफ़र में हैं

किसे है फ़ुर्सते-फ़िक्रे-हयात बादे-फ़ना
मगर ये नाज़ कि इक शोख़ की नज़र में हैं

मेरी निगाह में रौशन है मंज़िले-मक़्सूद
सितारओ-महो-नाहीद अभी सफ़र में हैं

जो आँसुओं में न ज़ाहिर हों उम्र भर 'अख़्तर'
निहाँ कुछ ऐसे भी तूफ़ान चश्मे-तर में हैं



यूँ तो किस फूल से रंगत न गयी बू न गयी
अय मुहब्बत! मेरे पहलू से मगर तू न गयी

मिट चले मेरी उमीदों की तरह हर्फ़ मगर
आज तक मेरे ख़तों से तेरी ख़ुश्बू न गयी

फ़स्ले-गुल ख़त्म हुई, रंगे-समन ख़्वाब हुआ
मेरी आँखों से मगर मेरी समन-रू न गयी

कब बहारों पे तेरे रंग का साया न पड़ा
कब तेरे गेसुओं को बादे-सहर छू न गयी

तेरे गेसूए-मुअत्तर को कभी छेड़ा था
मेरे हाथों से अभी तक तेरी ख़ुश्बू न गयी



मैं अपने शौक़ की धुन में दुआ भी भूल गया
वो पास आये तो नामे-ख़ुदा भी भूल गया

अब इससे बढ़के भी कुछ और बेकसी होगी?
इलाही! अब तो मेरा दिल दुआ भी भूल गया

उमीद क्या हो किसी से वफ़ाशिआरी की
वफ़ा कहाँ कि ज़माना जफ़ा भी भूल गया

ख़बर ले कौन मुहब्बत के दर्दमन्दों की
जहाँ में भेज के हमको ख़ुदा भी भूल गया



वो फ़ित्नाकार, ज़ेबे-शबिस्ताँ है आजकल
क्यूँ मह्वे-ख़्वाब, शोरिशे-दौराँ है आजकल

है ख़ौफ़े-मुहतसिब भी, ख़याले-हिसाब भी
लाहौर गरचा जन्नते-ज़िन्दाँ है आजकल

दुनिया ने गो जला के हमें एक कर दिया
फिर भी दिमाग़े-इश्क़ गुलिस्ताँ है आजकल

फिर उक़्दए-हयातो-वफ़ा, ज़ेरे-ग़ौर है
फिर ज़ेबदोश, गेसूए-पेचाँ है आजकल

फिर हँस रही है सारी ख़ुदाई मेरे लिए
फिर सामने वो चेह्रए-ख़न्दाँ है आजकल

फिर अब्र छा रहा है बहारें लिये हुए
फिर सामने वो ज़ुल्फ़े-परीशाँ है आजकल

फ़स्ले-बहार-ओ-रूए-निगारो-मये-कुहन
हासिल हर एक तरह का सामाँ है आजकल

कह दो सहर से हमको नहीं फ़ुर्सते-नज़र
मामूरे-हुस्नो-रंग, शबिस्ताँ है आजकल

ईमान को अज़ीज़ रखें हम तो किस तरह
पेशे-नज़र वो ग़ारते-ईमाँ है आजकल

भूला नहीं सबक़ अभी दीवाना इश्क़ का
'अख़्तर' को गरचे-शिकवए-दौराँ है आजकल



वो मेरे दिल का हाल क्या जाने
सोज़े-रंजो-मलाल क्या जाने

हर क़दम फ़ित्ना है, क़यामत है
आस्माँ तेरी चाल क्या जाने

सब्र को सब कमाल कहते हैं
आशिक़ी ये कमाल क्या जाने

ख़ून होता है किसकी हस्रत का
मेरा रंगीं जमाल क्या जाने

वो ग़रीबों का हाल क्यूँ पूछे
वो ग़रीबों का हाल क्या जाने

खो गया हो जो दिल तसव्वुर में
वो फ़िराक़ो-विसाल क्या जाने

सैले-ख़ूँ क्यूँ रवाँ है आँखों से
मौसमे-बरशिगाल क्या जाने

मर रहे हैं फ़िराक़ में 'अख़्तर'
वो मगर अपना हाल क्या जाने



(मूल उर्दू से लिप्यन्तरण : दीपक रूहानी)